गुरुतं

भाग–19

मंगल आशीर्वाद :

परम पूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती
श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज

प्रवचनकार :

आचार्य वसुनंदी मुनि

कृति : गुरुत्तं भाग–19

मंगल आशीर्वाद : प.पू. सिद्धान्त चक्रवर्ती श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज

कृतिकार : आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज

सम्पादन : आर्यिका वर्धस्व नंदनी

संस्करण : प्रथम (सन् 2026)

प्रतियाँ : 1000

ISBN : **978-93-94199-78-1**

मूल्य : 70/– (Not for Sale)

प्रकाशक : निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला समिति (रजि.)

प्राप्ति स्थल : निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला समिति कार्यालय
मो. 9971548889, 8800091252

मुद्रक : मित्तल इंडस्ट्रीज़, नई दिल्ली
मो. 9312401976

Visit us @ www.acharyavasunandi.com

संपादकीय

जह जह सुदमोग्गाहदि, अदिसयरसपसरमसुदपुव्वं तु।
तह तह पल्हादिज्जदि, णवणवसंवेगसड्ढाए।।

जीव जैसे-जैसे अतिशय अभिधेय से भरा, जिसे पहले कभी नहीं सुना ऐसे श्रुत में अवगाहन करता है अर्थात् शब्द रूप श्रुत के अर्थ को जानता है, वह वैसे-वैसे नवीन नवीन संवेग व धर्मश्रद्धा से युक्त होता है।

णाणेण सव्वभावा, जीवाजीवासवादिया तधिगा।
णज्जदि इह परलोए, अहिदं च तहा हियं चेव।।

ज्ञान के द्वारा जीव, अजीव, आस्रव आदि सभी पदार्थ तथ्यभूत जाने जाते हैं। ज्ञान से ही जीव इस लोक और परलोक में अहित व हित को जानता है।

आदपरसमुद्धारो, आणा वच्छल्लदीवणा भत्ती।
होदि परदेसगत्ते, अव्वोच्छित्ती य तित्थस्स।।

अपने और दूसरों के उद्धार के उद्देश्य से, जो सदा स्वाध्याय में संलग्न रहता है वह अपने कर्मों की निर्जरा के साथ पर के कर्मों की निर्जरा में भी निमित्त बनता है। सर्वज्ञ प्रभु की जो आज्ञा है कि कल्याण के इच्छुक जिनशासन के प्रेमी को सदा धर्मोपदेश करना चाहिए, उसका भी पालन होता है। धर्मोपदेश से वात्सल्य और जिनवचन में भक्ति प्रदर्शित होती है, धर्म की प्रभावना होती है। दूसरों को उपदेश देने पर मोक्षमार्ग अथवा श्रुतरूप तीर्थ की परम्परा अव्वुच्छिन्न रहती है। श्रुत भी रत्नत्रय के कथन में संलग्न होने से तीर्थ है, अतः स्वाध्यायपूर्वक उपदेश करने से श्रुत और मोक्षमार्ग का विच्छेद नहीं होता। वे सदा प्रवर्तित रहते हैं।

आज इस पंचमकाल में जिनराज के वचन मुनिराज के मुख से सुनकर हम सभी स्वयं को पुण्यवंत व सौभाग्यशाली अनुभव करते हैं। संप्रति इस कलिकाल में भरतक्षेत्र में साक्षात् अरिहंत केवली की

दिव्यध्वनि का रसपान तो संभव नहीं; किन्तु उनकी वाणी को अंगीकार करने वाले दिगंबर गुरु इस पृथ्वीतल पर उन्हीं अरिहंत प्रभु की तरह पूज्य हैं। उनके मुख से निकली आगमवाणी भव्यजीवों के लिए मंगलमय जीवन व मोक्ष का मार्ग आज भी प्रशस्त कर रही है।

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, प्राकृतभाषा चक्रवर्ती आचार्य श्री वसुनन्दी जी मुनिराज के प्रवचनों की श्रृंखला 'गुरुत्तं' नाम से सर्व प्रसिद्ध है। पाठकों के लगातार निवेदन पर 'गुरुत्तं' के 18 भाग प्रकाशित किए जा चुके हैं। प्रस्तुत कृति **'गुरुतं भाग-19'** को आज साधर्मी पाठकों तक पहुँचाते हुए हमें अति हर्ष का अनुभव हो रहा है।

इसके अंतर्गत 'नियमों का महत्व', ''जीवन: अवसर या प्रमाद'' 'पंचमकाल में सत्य की पहचान', 'किसका भाग्य सहायक' जैसे शीर्षकों पर आचार्य भगवन् के प्रेरणादायक प्रवचन हैं। आचार्य भगवन् की सरल, सहज वाणी सभी के हृदयों में अपना स्थान वैसे ही बना लेती है जैसे पानी, पत्थरों में भी अपना स्थान बना लेता है। इसलिए ही आबल-वृद्ध सभी के लिए आचार्य भगवन् की मिष्टवाणी आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है।

जिस प्रकार मार्गों में लगे प्रकाशस्तंभ रात्रि में गतिमान वाहनादि के लिए उपकारी सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार जीवन को सम्यग्ज्ञान व सदाचार से प्रकाशित करने वाले आचार्य भगवन् के प्रवचन, अज्ञान तम से ग्रसित संसारी प्राणियों के लिए अत्यंत उपकारी हैं। जिस प्रकार मिट्टी के नवीन कलश में गिरती हुई जल की एक-एक बूँद कलश द्वारा अवशोषित होने से दृष्टिगोचर तो नहीं होती किन्तु कलश में रहती अवश्य है, उसी प्रकार इन प्रवचन श्रृंखलाओं का अध्ययन जीवन में सूक्ष्म परिवर्तन करते हुए कब पाठक के जीवन को आदर्श रूप में स्थापित कर देता है। यह उसे स्वयं ज्ञात नहीं होता।

''गुरुत्तं'' पढ़कर अपने अनुभवों को सांझा करने वाले पाठकों के हम हृदय से आभारी हैं, जिनके कारण इन प्रवचन श्रृंखलाओं को आगे बढ़ाने का हमारा साहस वृद्धिंगत होता है। हमें आशा नहीं पूर्ण विश्वास है कि इन प्रवचनों का समीचीन रूप से अध्ययन कर आप अपनी

विशुद्धि वृद्धिंगत करते हुए जीवन में सम्यक् परिवर्तन लाकर स्वात्मोन्नति के साथ परिवार, समाज, देश व राष्ट्रोन्नति में भी निमित्त बनेंगे।

प्रस्तुत प्रवचन शृंखलाओं को पाठकों तक पहुँचाने में मात्र हमारा श्रम नहीं; अपितु आर्यिका श्री वर्चस्व नन्दिनी माता जी, आर्यिका श्री यशोनन्दिनी माता जी इत्यादि आर्यिकाओं का भी विशिष्ट श्रम हैं।

गुरुत्तं-19 के सम्पादन में यदि अल्पज्ञता या प्रमादवश कोई त्रुटि रह गई हो तो मैं उस सभी के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। साथ ही धर्मानुरागवश आशा करती हूँ कि आप सभी इस कृति का अध्ययन नीर-क्षीर विवेकी हंस के समान करेंगे अर्थात् दोषों की उपेक्षा कर गुणों को ग्रहण करने में संलग्न होंगे।

यद्यपि संपादन की योग्यता मुझ अल्पज्ञा में नहीं, किन्तु गुरुकृपा से संसार के असंभव कार्य भी संभव हो जाते हैं। इसमें जो कुछ भी गुणयुक्त दृष्टिगोचर होता है वह गुरु की कृपादृष्टि ही जानना चाहिए। हमें इस योग्यता से परिपूर्ण करने के लिए हम अपने गुरुवर के सदैव ऋणी रहेंगे।

पुस्तक के मुद्रण, प्रकाशन आदि में सहयोगी सभी धर्मानुरागी महानुभावों के लिए पूज्य आचार्य गुरुदेव का मंगलमय शुभाशीष।

हम जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना करते हैं कि परम पूज्य आचार्य भगवन् गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज का आरोग्य, संयम, तप व ज्ञान शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की भाँति वृद्धिंगत होता रहे एवं पृथ्वीतल पर प्रसारित चांदनी की भाँति उनकी आशीषानुकम्पा व धवल कीर्ति धरती पर सदैव विस्तृत रहे। परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, प्राकृतभाषा चक्रवर्ती आचार्य श्री वसुनन्दी जी मुनिराज के चरण कमल में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित नमोस्तु... नमोस्तु... नमोस्तु...।

श्री शुभमिति वैशाख शुक्ल 2 ॐ अर्हं नमः

रविवार, 19 अप्रैल 2025 **आर्यिका वर्धस्वनंदनी**

श्री वीर निर्वाण संवत् 2552

शाश्वत सिद्धक्षेत्र, श्री सम्मेद शिखर जी

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
1.	गुण ही वंदनीय	1
2.	श्रावक धर्म के चार आयाम	24
3.	धन की गति	55
4.	सुख के तीन सूत्र	67
5.	किसका भाग्य सहायक	81
6.	मोह छोड़ो, संयम अपनाओ	100
7.	चार प्रकार का प्रशस्त राग	111
8.	नियमों का महत्व	126
9.	मन-विजय का मार्ग	140
10.	पंचमकाल में सत्य की पहचान	154
11.	जीवन : अवसर या प्रमाद	166
12.	मोह का भेदन	180

गुण ही वंदनीय

आचार्य भगवन् कुंदकुंद स्वामी जिनशासन की निर्मल और अक्षुण्ण परम्परा के ऐसे ध्रुव तारे हुए जिन्होंने भव्य जीवों को आत्महित के मार्ग में प्रवृत्ति कराने के लिए सत्साहित्य की रचना की। वे आध्यात्मिक वृत्ति में प्रसिद्ध, कुशल संघ संचालक, चतुर्विध संघ के नायक, अनेक प्रकार की विद्या, कला एवं ऋद्धियों से सम्पन्न तपस्वी आचार्य हुए। महर्षि आचार्य कुंदकुंद स्वामी दिगम्बर जैन आम्नाय के इतने स्तुत्य, पूज्य, समादरणीय आचार्य हैं कि भगवान महावीर स्वामी व गौतम स्वामी के उपरांत चार मंगलों में उनका नाम भी उल्लेख किया जाता है। आप पढ़ते हैं–

मंगलं भगवान-वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुंदकुंदाद्यो, जैनधर्मोस्तु मंगलम्।।

आचार्य भगवन् कुंदकुंद स्वामी के बारे में बताया जाता है कि उन्होंने लगभग 84 पाहुड़ों की रचना की, इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम पर टीका लिखी। अन्य-अन्य प्रस्फुट, प्रकीर्णक साहित्य भी मिलता है। उनके संघ में लगभग 690 साधु-साध्वी, क्षुल्लक-क्षुल्लिका, त्यागी-व्रती थे। चतुर्विध मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका संघ से वे सुशोभित थे। गिरनार पर्वत पर आदि धर्म कौन सा है दिगम्बर या श्वेताम्बर, इस बात पर संघश्री से वाद हुआ। नाना प्रकार

की युक्ति, तर्क, आगम से सिद्ध करने के बावजूद भी जब सामने वाला पक्ष स्वीकार करने को तैयार नहीं हुआ, तब कहा गया—ये अम्बिका देवी उद्घोषित करे कि कौन सा धर्म आदि है, वही हम स्वीकार करेंगे। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंदस्वामी जी ने सिर पर पिच्छी रखकर अम्बिका देवी से बुलवा लिया—'आदि दिगम्बरा, आदि दिगम्बरा, आदि दिगम्बरा' आदिधर्म दिगम्बर है।

महानुभाव! प्रारंभ में व्यक्ति दिगम्बर ही जन्म लेता है, बाद में वस्त्र ग्रहण करता है। दूसरी बात यह है जब संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होता है तब व्यक्ति यथाजात दिगम्बर दीक्षा को स्वीकार करता है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामीजी ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखा है—यदि कोई भव्यजीव आत्महित की भावना से आपके पास आता है तो प्रथमतः उसे उत्कृष्ट मार्ग का उपदेश दें। मुनि दीक्षा का ही उपदेश दें, श्रावक दीक्षा का नहीं। यदि वह मुनि दीक्षा लेने में असमर्थ है तब पुनः उसे श्रावक दीक्षा का उपदेश दें, उसमें भी असमर्थ हो तो श्रावक के अणुव्रत, उसमें भी असमर्थ हो तो फिर पाक्षिक-नैष्ठिक-साधक में से यथायोग्य श्रावक बनने के लिए उपदेश दें। यदि उच्चकोटि का उपदेश प्रारंभ में नहीं दिया जाएगा, तो वे आचार्य महोदय भी प्रायश्चित के भागीदार बन जाएँगे।

दिगम्बर अवस्था ही आत्महित की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। आचार्य महोदय ने कहा है—**''णग्गो हि मोक्खमग्गो,**

सेसा उम्मग्गया सव्वे'' नग्नता ही मोक्ष का मार्ग है, नग्नता से रहित अन्य जितने भी मार्ग हैं वे सभी उन्मार्ग हैं, राजमार्ग नहीं। अर्थात् आत्महित के साक्षात् मार्ग नहीं।

महानुभाव! आचार्य भगवन् कुंदकुंद स्वामी के संबंध में यह बात भी विख्यात है कि उन्होंने साक्षात् तीर्थंकर सीमंधरस्वामी के दर्शन किए, उनकी दिव्यध्वनि का अमृतपान किया। इस संबंध में भी दो प्रसंग प्राप्त होते हैं। एक प्रसंग प्राप्त होता है कि वे चारणऋद्धि के माध्यम से आकाश में गमन करते हुए विदेह क्षेत्र पहुँचे, द्वितीय प्रसंग यह प्राप्त होता है कि उनके पूर्वभव के मित्र वा भाई, जो देव थे, वह उन्हें विदेहक्षेत्र ले गए। महत्वपूर्ण यह नहीं है कि देव लेकर गए अथवा वे स्वयं चारणऋद्धि से गए, अपितु महत्वपूर्ण यह है कि उन्होंने साक्षात् सीमंधर स्वामी के दर्शन किए, दिव्यध्वनि सुनी और तीर्थंकर केवली की वाणी सुनकर के उन्होंने जैन वाङ्मय का संवर्धन किया।

आचार्य महोदय कुंदकुंदस्वामी जी ने ग्रंथों में स्पष्ट कहा कि जो व्यक्ति सम्यक्त्व से विहीन है वह व्यक्ति आत्महित में प्रवृत्ति कर ही नहीं सकता। सम्यक्त्व से रहित जीव मांस पिंड के समान है। सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है। **'दंसणमूलो धम्मो'** धर्म का मूल दर्शन है, निष्ठा है, रुचि है, प्रतीती है। यदि सम्यग्दर्शन नहीं है तो मन-वचन-काय से पुण्य की क्रियाएँ की जा सकती हैं किन्तु आत्महित

में प्रवृत्ति नहीं। पुण्य का संचय तो अभव्य जीव भी कर सकता है किन्तु भोगों को प्राप्त करने के लिए, आत्महित के लिए नहीं। यहाँ आचार्य भगवन् बता रहे हैं कि पूज्यता कहाँ से आती है।

तो आचार्य महोदय के शब्दों में ही देखते हैं। उन्होंने दर्शनपाहुड की 27वीं गाथा में लिखा है–

ण वि देहो वंदिज्जइ, ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो।
को वंदमि गुणहीणो, ण हु सवणो णेव सावओ होइ।। 27।।

इस गाथा का भाव अत्यंत स्पष्ट है। यह प्राकृतभाषा में रचित है, जो अत्यंत प्रांजल और सरल है। उस समय यह जनसाधारण की बोलचाल की भाषा थी; आज यह शास्त्रीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठित है। जैन आचार्यों की यह प्रमुख अभिव्यक्ति भाषा रही है। अतः इसे समझना आज भी अधिक कठिन नहीं है।

संस्कृत भाषा देव-नागरी भाषा कहलाती है; परंतु संस्कृत और प्राकृत दोनों को यदि एक ही प्रवाह की दो धाराएँ कहा जाए तो अनुचित न होगा। ये मानों एक ही नदी के दो तट हैं, जो साथ-साथ चलते हुए ज्ञान की धारा को समृद्ध करते हैं। प्रत्येक काल और प्रत्येक क्षेत्र में इन दोनों भाषाओं का विशिष्ट महत्व रहा है। इस गाथा का भाव समझते हैं। **''ण वि देहो वंदिज्जइ''** अर्थात् देह वंदनीय नहीं है। देह की पूजा नहीं करनी चाहिए। अब प्रश्न उठता है–यदि देह वंदनीय नहीं है, तो आचार्य समंतभद्र स्वामी जी ने देह पूजा

का उल्लेख क्यों किया? शिवकोटि जी महाराज ने देह की पूजा की बात किस संदर्भ में कही? आचार्य वट्टकेर स्वामी जी ने देह-पूजा का प्रतिपादन किस अपेक्षा से किया? इन प्रश्नों का समाधान आचार्य समंतभद्र स्वामी जी के वचनों में प्राप्त होता है-

'स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते'

यह शरीर स्वभाव से अशुचि है; किंतु जब रत्नत्रय इस आत्मा में प्रकट हो जाता है, तब आत्मा और देह दोनों ही पूज्य हो जाती हैं।

आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी जी ने 'समयसार' जी में देह की स्तुति की है। तब शंकाकार ने प्रश्न उठाया-देह पूज्य कैसे हो सकती है? आत्मा ही तो पूज्य है! उन्होंने उत्तर दिया-आत्मा को लक्ष्य करके यह गाथा कही गई है, यह स्तुति आत्मा-प्रधान है। यदि आत्मा को मुख्य रखकर गाथा लिखी गई है तो फिर वर्ण-भेद की चर्चा क्यों की गई?

श्यामवर्णी श्री नेमिनाथ और मुनिसुव्रतनाथ भगवान, अताम्रवर्णी श्री वासुपूज्य व पद्मप्रभ भगवान, धवल चंद्र कांति के समान चन्द्रप्रभ व पुष्पदंत भगवान और हरितवर्ण पार्श्वनाथ व सुपार्श्वनाथ भगवान एवं शेष तीर्थंकर तपाये हुए स्वर्ण के समान-इन समस्त तीर्थंकरों के वर्ण का उल्लेख क्यों किया गया? यदि आत्मा ही प्रधान है, तो इन भिन्न- भिन्न वर्णों का वर्णन किस हेतु से? इसका

समाधान देते हुए कहा गया–देखिए, बिना आधार के आधेय नहीं होता। व्यक्ति की दृष्टि कहाँ है, यह देखना जरूरी है। उदाहरणार्थ–एक व्यक्ति के हाथ में काली पॉलिथीन है, किंतु उसके भीतर शक्कर भरी हुई है, दूसरे व्यक्ति के हाथ में स्वच्छ, आकर्षक पैकेट है, जिसमें नमक है। एक व्यक्ति के पास स्टील का कनस्तर है, जिसमें घृत रखा हुआ है और वह उसमें संतुष्ट है। दूसरे व्यक्ति के पास पीतल का लोटा है, जिसमें जल भरा हुआ है। अब प्रश्न यह है–महत्त्व किसका है? पात्र का, या उसके भीतर रखी वस्तु का? किसी की दृष्टि में जल का महत्व है; उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि लोटा स्टील का हो, पीतल का हो या एल्यूमीनियम का। उसके लिए महत्वपूर्ण जल है। इसी प्रकार, किसी अन्य की दृष्टि में घृत का महत्व है। आवश्यक नहीं कि कनस्तर कैसा भी हो, स्टील का, टीन का या अन्य किसी धातु का–मुख्य वस्तु उसके भीतर स्थित घृत ही है।

अतः यह समझना चाहिए कि बाह्य रूप, वर्ण या पात्र की अपेक्षा अंतःस्थित तत्त्व अधिक महत्वपूर्ण है। देह का मूल्य उसके रंग, आकार या संरचना से नहीं, अपितु उसमें प्रकट आत्मतत्त्व और रत्नत्रय से निर्धारित होता है। जिसकी दृष्टि गुण पर होती है वह बाह्य वस्तु में अपना उपयोग नहीं लगाता। नीतिकार भी कहते हैं–

''जो जाको गुण जानहि, सो तेहि आदर देत।
कोकिल अम्बुहि लेत है, काक निबोरी हेत॥''

अर्थात्–जो जिसका गुण जानता है, वह उसको उतना आदर देता है। कोयल आम के गुण को जानती है इसलिए वह उसके वर्ण और रस को देखकर कूकती है, उसे ग्रहण करती है। किन्तु काक (कौआ) पक्षी आम के गुण नहीं जानता। इसी कारण सावन के महीने में वह नीम की निबौली खाता है। जब अंगूर की फसल आती है, तब भी वह उसे ग्रहण नहीं कर पाता; उसके कंठ में रोग हो जाता है। नीतिकारों ने लिखा है–

''कर्महीन को न मिले, भली वस्तु का योग।
दाख पके तब होत है, काक कंठ में रोग।।''

अतः यहाँ पर आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी जी ने कहा–देह पूजनीय नहीं है। देह अत्यंत सुंदर भी हो सकती है; किसी का शरीर कामदेव के समान मनोहर हो सकता है, किन्तु वह पूजा का विषय नहीं है। यदि शरीर श्यामवर्ण का भी हो, परंतु वह रत्नत्रय से सहित हो, उसमें तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता प्रतिष्ठित हो, तो वही पूज्य हो जाता है। इसलिए तीर्थंकर भगवान पंचकल्याणक की पूजा को प्राप्त करते हैं।

यहाँ तक कहा गया है–यदि किसी मुनिमहाराज का शरीर धूमिल हो, अथवा उनका शरीर चर्म रोग से पीड़ित हो, तब भी सुर, असुर, इंद्र, नरेन्द्र आदि आकर उनकी वंदना करते हैं। इसके विपरीत किसी अंगना (स्त्री) का शरीर बहुत सुंदर हो, किन्तु वह नगरनारी के रूप में

विषय–व्यवसाय में संलग्न हो, तो उसकी बाह्य शोभा के कारण वह पूजनीय नहीं हो जाती। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी जी ने एक–एक गुण की विशेषता के आधार पर पूज्यता का निरुपण किया है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में उन्होंने कहा है–

मातङ्गो धनदेवश्च, वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च सम्प्राप्ताः, पूजातिशयमुत्तमम्॥64॥

यमपाल चाण्डाल–अहिंसा अणुव्रत की अपेक्षा से देवों के द्वारा पूज्य हुआ। धनदेव–सत्य अणुव्रत का पालन करने से पूज्यता को प्राप्त हुआ। वारिषेण–अचौर्य अणुव्रत के कारण पूज्यता को प्राप्त हुए। नीलीबाई–ब्रह्मचर्य की विशेषता से पूज्यता को प्राप्त हुई। और हस्तिनापुर के राजा जयकुमार मेघेश्वर जो चक्रवर्ती भरत के सेनापति भी थे– परिग्रह में अनासक्ति के कारण पूज्यता को प्राप्त हुए।

आचार्य समंतभद्र स्वामी जी ने यह भी प्रतिपादित किया कि मेंढक और शूकर जैसे प्राणियों में भी यदि विशिष्ट गुण प्रकट हो जाएँ, तो वे भी पूज्य बन सकते हैं। एक मेंढक प्रमुदित होकर पूजा करने के लिए जा रहा था। मार्ग में राजा श्रेणिक के हाथी के पैर के नीचे आकर उसकी मृत्यु हो गई। परिणाम स्वरूप वह भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में देव बनकर पहुँच गया। इसी प्रकार एक शूकर ने शेर से मुनिराज की रक्षा के लिए अपने प्राणों का त्याग कर दिया; वह शूकर भी देव गति को प्राप्त हुआ। अतः यहाँ

स्पष्ट कहा गया है—देह अकेली वंदना के योग्य नहीं है, क्योंकि देह तो अशुचि और अध्रुव है। उसमें निहित गुण ही ध्रुव होते हैं। वे गुण ही सर्वत्र पूज्य बनाते हैं। **'देह वि संजम-कारणं'** यह शरीर भी संयम का कारण बन सकता है। संयम व संयमधारी ही वास्तविक पूज्यता को प्राप्त करते हैं। आचार्यों ने यहाँ तक कहा है—

मन्ये देहं तदेवात्र यत्तपश्चरणक्षमम्।
स्वर्गमुक्तिकरं चान्यत् पापदुर्गति कारणम्।।

अर्थात् मैं उसी शरीर को मानता हूँ, जो तपश्चरण करने में समर्थ हो, जो स्वर्ग और मोक्ष का साधन बने। इसके विपरीत जो देह तप और संयम के मार्ग में सहायक नहीं है, वह पाप व दुर्गतियों का कारण बनती है। जो शरीर चारित्र को अंगीकार कर, परीषहों को समतापूर्वक सहन करने में धैर्यवान् बनता है, वही शरीर व शरीरधारी पूज्य है। जिस तन के द्वारा चेतन को परम-पावन बनाने का समीचीन पुरुषार्थ किया जाता है, वही तन पूज्यता को प्राप्त होता है।

आगे कहा—**''ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो''** कुल और जाति भी वंदना के योग्य नहीं है। यदि कोई उच्च कुल में पैदा होकर भी सप्त व्यसनी है, तो उसकी पूजा कौन करेगा? यदि कोई उच्च जाति का होकर भी पापकर्म में लिप्त है, तो वह कैसे पूज्य हो सकता है? कषाय भाव से युक्त व्यक्ति का कोई पूजक नहीं बनता। जाति व कुल के मद में प्रसिद्ध राजा देवरति ने अन्य मनुष्यों का तिरस्कार

व अपमान किया। परिणामस्वरूप गर्वान्ध होकर उसने मृत्यु को प्राप्त किया और अपने ही महल में विष्ठा में कीड़ा हुआ। नीतिकारों ने कहा है–

नीच-नीच सब तरि गए, संत चरन लवलीन।
जाति के अभिमान में, डूबे बहुत कुलीन॥

अर्थात् जो संतों के चरणों का आश्रय लेते हैं, वे चाहे किसी भी स्तर के हों, पार हो जाते हैं; परंतु जो जाति-अभिमान में डूबे रहते हैं, वे उच्चकुल में जन्म लेकर भी संसार-सागर में डूब जाते हैं।

जो तत्त्वज्ञान से रहित हैं, वे शरीर के आश्रित जाति और कुल के अभिमान में गहरे डूबते जाते हैं और अपना संसार बढ़ाते रहते हैं। आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी जी ने समाधितन्त्र में कहा है–

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा, देहयेवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते, ये जातिकृता-ग्रहाः॥88॥

जाति का आश्रयभूत स्थान शरीर है और आत्मा का लौकिक अधिष्ठान भी शरीर ही माना जाता है। जो व्यक्ति जाति के अहंकार में ग्रस्त रहता है, वह अपने इस अभिमान के कारण संसार-बंधन से मुक्त नहीं हो सकता।

'धर्मपरीक्षा' नामक एक ग्रंथ है, जिसका स्वाध्याय प्रत्येक श्रावक को करना चाहिए। आचार्य भगवन् अमितगति स्वामी जी ने उसमें अत्यंत सुंदर बात कही है कि जिनधर्म को प्राप्त करने के लिए क्या आवश्यक है–

न जातिमात्रतो धर्मो, लभ्यते देहधारिभिः।
सत्य-शौच-तपः शीलध्यानस्वाध्याय-वर्जितैः॥ (17-23)

अर्थात् केवल जाति मात्र से धर्म की प्राप्ति नहीं होती। जो व्यक्ति सत्य, शौच, तप, शील, ध्यान और स्वाध्याय से रहित है, वह ब्राह्मण आदि उच्च जातियों में जन्म लेकर भी धर्म को प्राप्त नहीं कर सकता। वस्तुतः जिस जाति में संयम, नियम, शील, तप, दान, इन्द्रिय-दमन, कषायों का निरसन और दया आदि परमार्थभूत गुण विद्यमान रहते हैं, वही सत्पुरुषों की श्रेष्ठ जाति समझी जाती है।

''गुणा सव्वत्थ पुज्जंते ण दु गुणहीण-कुलं''

गुण सर्वत्र पूजे जाते हैं, गुणहीन कुल नहीं।

यहाँ आचार्य महोदय स्पष्ट कर रहे हैं कि केवल उच्च कुल या जाति में उत्पन्न होने से पूज्यता प्राप्त नहीं होती। कुल और जाति का भेद पूज्यता का मापदंड नहीं है। पूज्यता तो गुणों से प्राप्त होती है। इसीलिए आगे कहा गया-''**को वंदमि गुणहीणो, ण हु सवणो णेव सावओ होइ**'' गुणहीन की वंदना कौन करता है? न तो गुणहीन साधु वंदना को प्राप्त होता है और न ही गुणहीन श्रावक वंदना को प्राप्त होता है। गुण ही सर्वत्र पूज्य होते हैं। जो गुणों में श्रेष्ठ होता है, वही लोक में श्रेष्ठ माना जाता है। आचार्यों ने कहा है-

'**गुण-धम्म विहीणाणं जीवणं विफलं**' जो गुण और धर्म से हीन है, उसका जीवन निष्फल है। व्यक्ति के जीवन

में गुरुता गुणों से आती है, न कि केवल उच्च पद या प्रतिष्ठा से। दूरस्थ सज्जनों के गुण भी वंद्य व पूजा के योग्य बन जाते हैं और निकट में रहने वाले गुणहीन दुर्जन भी तिरस्कृत किए जाते हैं।

महानुभाव! ग्यारह अंग और नौ पूर्व के पाठी भव्यसेन मुनि—यदि वे सम्यक्त्व व संयम से रहित थे, तो वे भी पूज्यता को प्राप्त नहीं हुए। आपने सम्यक्त्व में दृढ़ रानी रेवती की कहानी अवश्य सुनी होगी।

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में मेघकूट नामक नगर था। वहाँ के राजा चन्द्रप्रभ थे। एक बार वे तीर्थयात्रा के लिए अपना राज्य भार अपने पुत्र को सौंपकर निकल पड़े। यात्रा करते-करते वे दक्षिण मथुरा पहुँचे। वहाँ पुण्ययोग से उन्हें एक गुप्ताचार्य मुनि के दर्शन हुए।

राजा ने मुनिराज का बड़े भक्तिभाव से धर्मोपदेश सुना, उस उपदेश का उनके हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। परिणामस्वरूप उन्होंने तीर्थयात्रा करने के लिए एक विद्या को अपने अधिकार में रखकर क्षुल्लक-व्रत धारण कर लिया। एक दिन उनकी इच्छा उत्तर मथुरा की यात्रा करने की हुई। प्रस्थान करते समय उन्होंने अपने गुरु महाराज से निवेदन किया—हे आचार्य भगवन्! मैं यात्रा के लिए जा रहा हूँ। क्या आपके कोई संदेश या समाचार किसी के लिए कहने योग्य हैं। गुप्ताचार्य ने उत्तर दिया—''मथुरा में 'सुरत' नाम के एक बड़े ज्ञानी मुनिराज हैं। उन्हें मेरा नमोस्तु

निवेदित करना। साथ ही सम्यग्दृष्टि, धर्मनिष्ठा रेवती के लिए धर्मवृद्धि शुभाशीष कहना।

क्षुल्लकजी ने पुनः पूछा–''गुरुवर! इसके अतिरिक्त और भी किसी से कुछ कहना है क्या?'' आचार्य ने कहा–'नहीं।' यह सुनकर क्षुल्लक महाराज के मन में विचार उठा–आखिर ऐसा क्या कारण है कि आचार्य भगवन् ने एकादशांग के ज्ञाता श्री भव्यसेन मुनि और अन्य मुनियों के रहते हुए भी उनके लिए कुछ नहीं कहा केवल सुरत मुनि और रानी रेवती के लिए ही नमोस्तु व धर्मवृद्धि का संदेश दिया? निश्चय ही इसके पीछे कोई विशेष कारण तो अवश्य होगा।

इस जिज्ञासा के साथ वे आगे बढ़ गए। वे यात्रा करते हुए भव्यसेन (नाममात्र के) मुनि के पास गए, उन्होंने उन्हें नमोस्तु किया, किन्तु भव्यसेन मुनि ने अभिमानवश धर्मवृद्धि तक नहीं दी। अगले दिन प्रातःकाल जब भव्यसेन मुनि कमण्डलु लेकर शौच के लिए निकले। तब उनके पीछे-पीछे चन्द्रप्रभ क्षुल्लक भी चल पड़े। आगे जाकर क्षुल्लक जी ने अपनी विद्या के प्रभाव से भव्यसेन मुनि के मार्ग की भूमि को कोमल, हरी-भरी तृणावली से आच्छादित कर दिया। भव्यसेन मुनि ने उसकी कोई परवाह नहीं की और उसी पर से चलते हुए आगे बढ़ गए। तत्पश्चात् क्षुल्लक जी ने उनके कमण्डल का सारा जल सुखा दिया। कमण्डल में जल न पाकर भव्यसेन मुनि चिंतित हुए, तब

क्षुल्लक जी ने उनकी परीक्षा लेते हुए कहा–"पास ही एक सरोवर है, वहाँ जाकर शुद्धि कर लीजिए।" भव्यसेन मुनि ने अपने पद की मर्यादा का ध्यान नहीं रखा और क्षुल्लक जी के कहे अनुसार ही आचरण कर लिया। तब क्षुल्लक जी समझ गए कि आचार्य महाराज ने इनके लिए कोई संदेश क्यों नहीं दिया।

इसके पश्चात् उन्होंने रानी रेवती की भी परीक्षा ली। रानी रेवती प्रत्येक परीक्षा में उत्तीर्ण हुईं। कभी उनके समक्ष ब्रह्मा का रूप धारण कर प्रकट हुए, कभी विष्णु भगवान का रूप बनाया, कभी मायावी समवसरण बनाकर पच्चीसवें तीर्थंकर का रूप उपस्थित किया, और कभी अनेक व्याधियों से पीड़ित शरीर बनाकर रानी रेवती के यहाँ भिक्षा लेकर दान धर्म तथा निर्विचिकित्सा अंग की परीक्षा ली। पर रानी रेवती प्रत्येक परिस्थिति में सम्यक्त्व में दृढ़ रही। तब क्षुल्लक चन्द्रप्रभ समझ गए कि मेरे गुरुदेव ने रानी रेवती को धर्मवृद्धि का आशीर्वाद क्यों दिया था।

महानुभाव! संयम और सम्यक्त्व से हीन भले ही मुनिराज भी क्यों न हों वंदना के योग्य नहीं और सम्यक्त्व आदि गुणों से युक्त श्रावक भी धर्मवृद्धि शुभाशीष के योग्य हो जाता है। सदाचारी और गुणवान कोई भी हो वह पूज्यनीय व प्रशंसनीय होता है। जबकि कदाचारी, असंयमी, गुणहीन सदैव निन्दनीय ही होता है। आचार्य भगवन् कुलभद्र स्वामी जी ने लिखा भी है–

सदवृत्तः पूज्यते देवैराखण्डलपुरः सरैः।
असद्वृत्तस्तु लोकेस्मिन्निन्द्यतेऽसौ सुरैरपि॥275॥

व्यक्ति के गुण और चरित्र के कारण ही उसे देवों द्वारा भी पूज्यता प्राप्त होती है। जो इस लोक में दुराचारी होता है वह देवों द्वारा भी निन्दा का पात्र बनता है। इस लोक में गुण ही पूजे जाते हैं; गुण ही वास्तविक कल्याणकारी होते हैं।

जो व्यक्ति सद्वृत्ति, दया, क्षमा, सौम्यतादि गुणों से समन्वित है वही माननीय है। यदि कोई उच्च पद पर आसीन हो, परंतु गुणहीन, विद्याहीन, व्यवहारहीन और सदाचार से रहित हो तो वह जगत में पूजनीय नहीं हो सकता। व्यक्ति की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता जन्म से नहीं, अपितु गुणों से सिद्ध होती है। गुणों से ही गौरव प्राप्त होता है; जैसे दूध, दही और घृत क्रमशः परिष्कार से गौरव को प्राप्त होते हैं आचार्यों ने कहा है–**''चेयणं सिंगारेज्ज गुणेहि णो देहस्स मेत्तं''** गुणों से चेतना का श्रृंगार करना चाहिए, देहमात्र का अलंकरण नहीं करना चाहिए।

महानुभाव! यहाँ यही बताया गया है कि देह की पूजा नहीं है; वास्तविक पूज्य तो वे हैं जिनके पास पारमार्थिक सम्पत्ति है। किसी के बहुत से अस्त्र-शस्त्र हों, बड़ा राज्य हो, अपार विभूति हो–किन्तु जो वीतरागमार्ग का अनुगामी है, उसकी दृष्टि में इन सबका कोई महत्व नहीं। वह तो यथाजात दिगम्बर साधु–जिनके शरीर पर एक धागा भी

नहीं, जो रत्नत्रय से मण्डित हैं, महातपस्वी हैं, ध्यान में संलग्न हैं–ऐसे महामुनिराज की भक्ति-वंदना करने के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तत्पर रहता है। जो श्रावक श्रद्धावान, विवेकवान और क्रियावान है, वह भी देवताओं द्वारा पूजनीय होता है। जो श्रावक गुणरूपी अलंकारों से सुशोभित है, जिसकी बुद्धि और चित्त धर्म से संयुक्त है, जो श्रावकोचित गुणधर्मों से युक्त है, ऐसा श्रावक भी पूज्यता को प्राप्त होता है और गुणहीन श्रावक तिरस्कार का पात्र बन जाता है।

एक बार किसी राजा के दरबार में एक पुरोहित था। वह पुरोहित राजा के लिए बहुत विशेष और आदरणीय था। राजा उसे देवता के समान मानता और उसके वचनों को अत्यंत प्रमाणिक समझता था। जब भी राजा उसका आदर-सम्मान करता, उसकी पूजा करता तब सभा के अन्य लोग भी उसी प्रकार सम्मान प्रदर्शित करते। किसी की इतनी हिम्मत नहीं थी कि राजपुरोहित को एक भी अपशब्द बोल सकें अथवा अनादर का विचार कर सकें।

एक दिन राजसभा में समस्त राज्य-परिषद, मंत्रीगण, राजा, पुरोहित और आमात्य आदि बैठे हुए थे। उसी समय पुरोहित जी ने राजा को समझाने के उद्देश्य से एक प्रश्न किया–''राजन्! आप मेरा इतना सम्मान और पूजन करते हैं–यह सब क्यों?'' राजा ने कहा–''पुरोहित जी! इसमें कोई विशेष बात नहीं है। ये तो सीधी-सी बात है कि आप

अत्यंत ज्ञानी हैं। जब भी मैं किसी विषय में उलझ जाता हूँ, तो आप उस गुत्थी को सुलझा देते हैं। आपका ज्ञान अगाध है, आप प्रत्येक विषय में पारंगत हैं। आपके उत्तर से मैं अंतरंग तक संतुष्ट हो जाता हूँ, आपका वाक्चातुर्य अनुपम है।

पुरोहित जी बोले—''नहीं राजन्! आप मेरी पूजा इसलिए नहीं करते।'' राजा अवाक् रह गया। राजन्! सत्य तो यह है कि आप वास्तव में मेरी पूजा नहीं करते; मैं अभी तक भ्रम में जी रहा था। राजा को अनुभव हुआ—मैं तो प्राण-प्रण से पुरोहित की पूजा करता हूँ, फिर भी पुरोहित जी पूरी सभा में ऐसी बात कहकर मेरा अपमान कर रहे हैं। राजा के अहंकार को चोट लगी। उसे प्रतीत हुआ कि पुरोहित जी उसकी श्रद्धा पर प्रश्नचिह्न लगा रहे हैं।

अगले दिन राजसभा में पुरोहित जी उपस्थित नहीं हुए। वे सीधे राजकोष (खजाने) में पहुँच गए। वहाँ खजांची ने उन्हें नहीं रोका, उसने सोचा—ये राजपुरोहित हैं; भले ही आज राजा इनसे अप्रसन्न हों, पर यदि कल राजा संतुष्ट हो गए और मुझे उन्हें रोकने-टोकने का दोषी ठहराया, तो दंडित होना पड़ेगा।

पुरोहित ने वहाँ से स्वर्णमुद्राएँ लीं और नगर के श्रेष्ठ जौहरी से विविध आभूषण बनवाकर अपने घर चले गए। अगले दिन वे एक मांसाहारी होटल पर पहुँचे। संयोग से राजा के कुछ कर्मचारी वहाँ से गुजर रहे थे। उन्होंने देखा

कि पुरोहित जी के हाथ में कुछ लाल-लाल वस्तु है। यह समाचार तुरंत राजा तक पहुँचा। संध्या समय यह भी देखा गया कि पुरोहित जी एक वेश्या के घर के पास खड़े हैं, उनके हाथ में एक बोतल है और वे उससे कुछ पी रहे हैं।

अब नगर में चर्चाएँ आरंभ हो गईं—"लगता है, पुरोहित जी की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। इनकी मति मारी गई है। देखो, कैसे-कैसे खोटे कार्य करने लगे हैं। राजपुरोहित के पद पर क्या ऐसे निन्दनीय आचरण शोभा देते हैं?" राजसभा में भी हलचल मच गई। कुछ लोग कहने लगे—"अरे! वो तो पहले से ही पियक्कड़ थे; उनका चरित्र भी अच्छा नहीं था। परंतु राजा जिन पर इतना विश्वास करते हैं; उनके विषय में हम क्या कहें?" तभी भण्डारी भी आ पहुँचा और बोला—"हाँ महाराज! कल पुरोहित जी भण्डारगृह में आए थे और स्वर्णमुद्राएँ लेकर चले गए। इस प्रकार तरह-तरह की बातें होने लगीं। राजा इन सब समाचारों से अत्यंत व्यथित और विचलित हो उठा। अंततः उसने घोषणा कर दी कि पुरोहित जी जहाँ कहीं भी हों, उन्हें तुरंत बेड़ी-हथकड़ी पहनाकर राजसभा में प्रस्तुत किया जाए।

सैनिक पुरोहित जी के पास पहुँचे और उन्हें बेड़ियाँ पहनाने लगे। पुरोहित जी शांत स्वर में बोले—"मुझे बेड़ियों में जकड़ने की आवश्यकता नहीं है। बताइए, आप क्या कहना चाहते हैं?" सैनिकों ने कहा—"राजा आपको देवता

के समान मानते थे; किन्तु आपने पापाचरण किया है। राजा ने आपको बंदी बनाने का आदेश दिया है। पुरोहित जी सभा में लाए गए। वहाँ राजा पहले से ही अत्यंत क्रोधित बैठे थे। पुरोहित को देखते ही राजा बोले–अब मैं तुम्हें 'पुरोहित' ये शब्द भी नहीं कह सकता। तुम्हें अपने कृत्यों पर शर्म आनी चाहिए। पुरोहितजी ने शांत किंतु दृढ़ स्वर में उत्तर दिया–"राजन्! अपने शब्दों पर संयम रखिए। मैं आपका पुरोहित हूँ। आपको सिंहासन से उतरकर मेरे चरण स्पर्श करने चाहिए, नमस्कार करना चाहिए। राजा और भी क्रोधित हो उठे–"तुम पापी, नीच और दुष्ट हो। तुम इसके योग्य नहीं हो।" पुरोहित बोला–मैं कौन हूँ और क्या हूँ यह सब बाद में स्पष्ट हो जाएगा। पहले आप मुझे नमस्कार कीजिए। राजा जो पहले ही गुस्से में था बोला–"तुम कैसी बातें कर रहे हो? हमने स्वयं तुम्हें गंदे कार्य करते देखा है।" पुरोहित जी ने प्रश्न किया–आप लोगों के पास क्या प्रमाण है कि मैंने चोरी की, मांस खाया, वेश्यावृत्ति की? क्या आप लोग वहाँ उपस्थित थे? जो लोग वहाँ उपस्थित थे उन्हें बुलवाकर वास्तविकता पूछी जाए। राजा ने सभी गवाहों को एक-एक कर बुलाने का आदेश दिया।

सबसे पहले उस होटल वाले को बुलाया गया। उससे पूछा गया। वह बोला–"राजन्! ये मेरे यहाँ अवश्य आए थे, परंतु इन्होंने अपने हाथों से मांस छुआ तक नहीं। इनके हाथ में टमाटर थे।

शराब वाले ने कहा–इन्होंने एक दिन के लिए कमरा लिया था, अपनी पत्नी के साथ आए थे। और जो बोतल उनके पास थी उसमें शरबत था शराब नहीं।'' भण्डारी से पूछा गया–हाँ ये भण्डारगृह आए थे। इन्होंने स्वर्णमुद्राएँ उठायीं अवश्य थीं, किन्तु पुनः वहीं रख दी थीं। उन्होंने कुछ भी नहीं लिया।'' जौहरी से भी पूछा गया। उसने कहा–जो आभूषण इन्होंने बनवाए थे, वे सुरक्षित रूप से अब भी मेरे पास रखे हैं।

राजा ने पूछा–''फिर आपने ऐसा कार्य क्यों किया?'' पुरोहित जी ने उत्तर दिया–राजन्! मैं आपकी मिथ्या धारणा को तोड़ना चाहता था। आपके मन में यह धारणा थी कि आप मेरी पूजा करते हैं। यदि आप वास्तव में मेरी पूजा करते हैं तो मैं अभी आपके समक्ष खड़ा हूँ–आपने मेरी पूजा क्यों नहीं की? आपने मुझे बन्दी बनाने का आदेश क्यों दिया? यदि आप मेरे ज्ञान की पूजा करते थे, तो क्या अब मेरे ज्ञान में कोई कमी आ गई।'' आप प्रश्न कीजिए, मैं अभी आपके प्रत्येक प्रश्न का उत्तर दे सकता हूँ। राजन्! मैं आपको समझाना चाहता हूँ कि संसार में न ज्ञान पूज्य है, न व्यक्ति पूज्य है। पूज्यनीय होता है–व्यक्ति का व्यक्तित्व, उसके गुण, उसका चारित्र, उसका सदाचार, विनय, क्षमा और विवेक आदि गुण।

महानुभाव! आचार्य भगवन् अमोघवर्ष स्वामीजी ने भी कहा–''**कः पूज्यः? सद्वृत्तः**'' जिसके पास गुण रूपी धन है, वही संसार में पूज्य है।

सद्गुणैः गुरुतां याति, कुलहीनोऽपि मानवः।
निर्गुणः सकुलाढ्योऽपि, लघुतां याति तत्क्षणात्॥274॥

–(सार समुच्चय)

सद्गुणों से युक्त, चाहे वह कुलहीन मनुष्य ही क्यों न हो, गुणों के कारण महानता को प्राप्त कर लेता है; और गुणरहित चाहे उच्चकुल में उत्पन्न पुरुष ही क्यों न हो, वह तत्काल ही लघुता को प्राप्त हो जाता है।

महानुभाव! गुण यूँ तो प्रत्येक द्रव्य में पाए जाते हैं। आप पढ़ते हैं–अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व अगुरुलघुत्व, द्रव्यत्व–ये छह सामान्य गुण कहलाते हैं। उनके अतिरिक्त अमूर्तत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व आदि विशेष गुण हैं। परंतु आचार्य महाराज यहाँ इन गुणों की अपेक्षा से बात नहीं कह रहे हैं।

जैसे पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत होते हैं। गुणव्रत अणुव्रतों को पुष्ट करने वाले होते हैं, शिक्षाव्रत महाव्रतों की शिक्षा देने वाले होते हैं। जो स्वभाव की ओर ले जाएँ वे गुण कहलाते हैं; जो विभाव को नष्ट करें, वे गुण कहलाते हैं; जो लोक व्यवहार में पूज्यता को धारण कराएँ अथवा जो आत्मा के शाश्वत स्वभाव को प्रकट कर संसार-परिभ्रमण से निवृत्ति की दिशा दें–वे गुण कहलाते हैं। यहाँ गुणों की अपेक्षा 'गुणकारक' अथवा 'गुणसंवर्धक' रूप में है–अर्थात् जो आत्मा के गुणों के कारक हैं, हेतु हैं, उन गुणों की पूज्यता की बात कही

है। जीवन में सम्यक्त्व, सम्यक् ज्ञान, वैराग्य, चारित्र, तप, ध्यान, मैत्री, वात्सल्य आदि भावनाओं के माध्यम से गुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं; इसलिए इन्हें भी गुण कहा जाता है।

ये केवल गुण ही नहीं, अपितु आत्मा के धर्म भी हैं– जैसे उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दस धर्म के लक्षण भी हैं और आत्मा के गुण भी हैं। इनके प्रकट होने से आत्मा स्वयं पूजनीय बन जाती है। आचार्य भगवन् रविषेण स्वामी जी ने पद्मपुराण में कहा है–

द्यौरिवादित्य निर्मुक्ता चन्द्रहीनेव शर्वरी।
त्वया विना न शोभेऽहं विद्येव च गुणोज्झिता॥16/15॥

हे प्रभु! जिस प्रकार सूर्य से रहित आकाश, चन्द्रमा से रहित रात्रि और गुणों से रहित विद्या शोभा नहीं देती, उसी प्रकार आपके बिना मैं भी शोभा नहीं देता। हे भगवन्! आप गुणों के समुद्र हो। इसी कारण आपके समीपस्थ रहने वाला भी गुणों से परिणूर्ण हो जाता है। गुणों की संगति करने से गुणों का उदय होता है और दुर्गुणों की संगति से दुर्गुणों का। अतः हम सदैव जिनगुणसम्पत्ति ही माँगते हैं– हमें वही प्राप्त हो।

महानुभाव! जो व्यक्ति गुणरूपी अलंकारों से सुशोभित होता है, उसी के पास सभी विद्याएँ और कलाएँ भी स्थिर रहती हैं। गुणहीन के पास वे अधिक समय तक टिक नहीं पाती। आचार्य महोदय का अभिप्राय यही है–यदि हमने

पाषाण, धातु आदि की मूर्ति बनाकर स्थापना कर दी, तो वे पाषाण, काष्ठ, रत्न, मृत्तिका की मूर्तियाँ भी पूजनीय बन जाती हैं। परंतु यदि हमने गुणों का आरोपण नहीं किया, तो स्वर्ण की मूर्ति भी पूजनीय नहीं होती। अतः यहाँ एक ही बात कही गई है—गुणहीन वंदनीय नहीं होता; गुणवान् ही पूज्य होता है, चाहे वह श्रावक हो या मुनि। इसीलिए हमें अपनी आत्मा में गुणों को प्रकट करने का सम्यक् पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। आज बस इतना ही....।

श्री शांतिनाथ भगवान की जय!

श्रावक धर्म के चार आयाम

महानुभाव! आचार्य भगवन् जिनसेन स्वामी ऐसे महान आचार्य हुए जिन्होंने अत्यंत अल्पआयु में ही दिगम्बरत्व को स्वीकार किया था। उनके विषय में कहा जाता है कि लगभग पाँच वर्ष की आयु में ही उन्होंने गृहत्याग कर दिया था। आचार्य भगवन् वीरसेन स्वामी, जो नवमी शताब्दी में हुए, उन्होंने चित्रकूट पर रहकर सतरह चातुर्मास किए, साधना की और लगभग एक लाख श्लोक प्रमाण संस्कृत–प्राकृत मिश्रित टीकाएँ लिखीं। आचार्य वीरसेन स्वामी जी ने आचार्य जिनसेन स्वामी जी को शैशव अवस्था से ही संस्कार देकर न केवल जैन वाङ्मय में पारंगत बनाया, बल्कि उन्हें एक आदर्श तपस्वी भी बनाया तथा जैन वाङ्मय का तलस्पर्शी अध्ययन कराया।

आचार्य वीरसेन स्वामी जी ने स्वयं एलाचार्य रहते हुए संघ का संचालन भी किया। उस समय के आचार्य, उपाध्याय, साधुओं में उन्होंने श्रेष्ठता प्राप्त की और जिनशासन की प्रभावना के लिए एक प्रेरक निमित्त भी बने। इसलिए तत्कालवर्ती साधुओं, श्रावक–श्रेष्ठियों तथा विद्वानों ने मिलकर उन्हें **''कलिकालसर्वज्ञ''** की उपाधि से महिमा मण्डित किया।

आचार्य जिनसेन स्वामी अत्यंत लघु, सरल व सहज व्यक्तित्व के धनी एवं एक कुशल वक्ता थे। विनम्रता उनके

रग–रग में समाई हुई थी, जैसे दूध के प्रत्येक अंश में घृत व स्निग्धता होती है, अग्नि के प्रत्येक अंश में ऊष्णता होती है, जल के प्रत्येक अंश में शीतलता होती है, उसी प्रकार आचार्य भगवन् जिनसेन स्वामी की रग–रग में विनम्रता व्याप्त थी। गुरु के प्रति उनमें निस्सीम भक्ति थी।

एक बार किसी ने आचार्य जिनसेन स्वामी से पूछा– ''आपके गुरु कैसे थे?'' उन्होंने उत्तर दिया–मेरे गुरु तो कपिला गाय के समान थे। कपिला गाय वह कहलाती है जिसकी पूँछ जमीन तक स्पर्श करती है और जिसकी पूँछ के बालों का गुच्छा बहुत बड़ा होता है। वह यदि एक बार अपनी पूँछ उठाकर घुमाए तो एक ही बार में सैकड़ों मक्खियों को उड़ा देती है। उन्होंने आगे कहा–''मेरे गुरु ऐसे थे कि वे एक बात कहते थे और उसी से सैकड़ों व्यक्तियों की जिज्ञासाओं का समाधान हो जाता था।'' यह सुनकर लोगों ने प्रमुदित होते हुए उनसे पूछा–''महाराज अब आप अपने बारे में बताइए, आप कैसे हैं? तब उन्होंने अपनी लघुता प्रकट करते हुए कहा–''भाईयों! मैं तो उस बंडा बैल के समान हूँ जिसकी पूँछ भी कटी होती है। बैल गाय जितना भद्र नहीं होता। वह भले ही सींग न मारे पर सिर तो हिला ही देता है; उसे क्रोध भी आ जाता है। वह बंडा बैल दिन में सौ बार अपनी पूँछ हिलाए तो चार मक्खियाँ भगा पाता है। इसी प्रकार मैं आठ–दस बार अपनी बात कहूँ, तब भी शायद सबकी जिज्ञासाओं का समाधान न कर सकूँ। यद्यपि उन्होंने यह अपनी लघुता प्रकट करने के

लिए कहा था, तथापि आचार्य जिनसेन स्वामी जी वास्तव में महान् आचार्य थे। चौबीस तीर्थंकरों का अलग-अलग पुराण लिखने का उनका भाव था। जैसे आदिनाथ भगवान का पुराण लिखा, वैसे ही अन्य तीर्थंकरों का भी लिखना चाहते थे; किन्तु संभवतः आयु अधिक न होने के कारण अन्य तेईस तीर्थंकरों का चरित्र स्वयं नहीं लिख सके। आगे चलकर उनके शिष्य आचार्य भगवन् गुणभद्र स्वामी ने उत्तरपुराण ग्रंथ में उन तेईस तीर्थंकरों के चरित्र की रचना की।

आचार्य भगवन् जिनसेन स्वामीजी ने आदिपुराण के सोलहवें सर्ग में 274वें श्लोक में एक बहुत अच्छी बात कही है। जो श्रावक अपने जीवन में सुख और शांति चाहते हैं, अर्थात् जिन्हें सुख और शान्ति की अभिलाषा है, उन्हें क्या करना चाहिए?

कई बार शिष्य ये दिखाना चाहता है कि वह अपने गुरु से आगे निकल जाए। इसी प्रकार कोई पुत्र भी यह दिखाना चाहता है कि वह अपने पिता से आगे निकल जाए। परंतु जो व्यक्ति क्रम का उल्लंघन करके, मर्यादा को लाँघकर आगे बढ़ना चाहता है, वह वास्तव में अधिक आगे नहीं बढ़ पाता, अंततः उसका पतन हो जाता है। इसीलिए आचार्य जिनसेन स्वामी ने गुरु-मर्यादा का पूरा ध्यान रखते हुए वही कहा जो उनके गुरु ने कहा था और उसी के अनुसार कल्याण का मार्ग बताया।

महानुभाव! कल्याण का मार्ग उसी के लिए बताया जाता है जो वास्तव में कल्याण करना चाहता है। जैसे सब्जी में जिसे नमक चाहिए उसी के लिए नमक का महत्त्व है, दूध में जिसे शक्कर चाहिए उसी के लिए शक्कर की महत्ता है। जो व्यक्ति जिस वस्तु को चाहता है, वह उसी को महत्व देता है। कुम्हार के जीवन में चिकनी और काली मिट्टी का महत्व है। शिल्पकार के लिए वह पत्थर महत्वपूर्ण है जो मूर्ति का रूप ले सके। चित्रकार के जीवन में उत्तम रंगों का महत्व है, और माला बनाने वाले के लिए सुंदर पुष्पों का महत्व है। किसान के लिए अच्छी भूमि का महत्व है। स्वर्णकार स्वर्ण को महत्व देता है, लोहार लोहे को महत्व देता है और जौहरी रत्नों को महत्व देता है। इस प्रकार सबकी महत्ता अलग-अलग होती है।

जो व्यक्ति जिस वस्तु के गुणों को जानता है, और जिसे चाहता है, वह उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है और अंततः उसे प्राप्त भी कर लेता है। प्यासा व्यक्ति जलाशय तक पहुँच ही जाता है और अपनी पिपासा को शांत कर लेता है। भूखे व्यक्ति को भोजन मिल ही जाता है। इस संसार में जिसे जो चाहिए, उसे वह सब कुछ मिल जाता है। अच्छाई खोजने वाले को अच्छाई मिलती है और बुराई खोजने वाले को बुराई। इस संसार में रहकर यदि व्यक्ति नरक आयु का बंध करना चाहता है, तो उसके साधन भी यहाँ उपलब्ध हैं। तिर्यंचायु, देवायु और मनुष्यायु के बंध

के कारण भी यहाँ हैं। और यदि कर्मों को नष्ट करके मोक्ष प्राप्त करना चाहता है, तो वह सामर्थ्य भी मनुष्य में विद्यमान है।

इसलिए आचार्य महोदय कह रहे हैं–हम उनके लिए उपदेश दे रहे हैं जो सुख के अभिलाषी हैं। जिन्हें सुख से कोई विशेष सरोकार नहीं, वे अपनी इच्छा के अनुसार जो चाहें, वही प्राप्त करें। यदि वास्तव में सुख प्राप्त करने की भावना हो, तो हमारे पास आइए; हम आपको सच्चे सुख का मार्ग बता रहे हैं। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने प्रवचनसार में कहा भी है–

'' पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं''

यदि दुःखों से मुक्त होने की इच्छा है, तो श्रमण दीक्षा को स्वीकार करो। आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने भी समाधि के अंतिम उपदेश में कहा था–''म्हणून भिऊ नका, भिऊ नका! काय तर संयम धारण करा. याच्याशिवाय कल्याण होणार नाही'' यह मराठी भाषा का उपदेश है–''हे भव्य प्राणियो! डरो मत संयम को धारण करो, संयम धारण किए बिना मुक्ति नहीं है।'' आप व्यापार करते हो तो डरते नहीं कि क्या होगा। व्यापार में घाटा भी हो सकता है। विद्यार्थी पढ़ता है, परीक्षा देता है; वह यह सोचकर पढ़ाई नहीं छोड़ देता कि कहीं पेपर out of course न आ जाए। इसी प्रकार कृषक भूमि में बीज डाल देता है। वह जोखिम

लेता है। संभव है कि बीज वापस भी न आए, और यह भी संभव है कि फसल दो गुनी, दस गुनी, यहाँ तक कि सौ गुनी हो जाए। अतः वह जोखिम उठा ही लेता है। इसीलिए कहा–संयम से डरो मत, संयम को स्वीकार करो।

आप अणुव्रती बन सकते हो, आप महाव्रती भी बन सकते हो–इसमें कोई कठिनाई नहीं है। पंचमकाल में भी व्यक्ति ऐसा बन सकता है। फिर नियमों से क्यों डरते हो? जब मनुष्य नियम ग्रहण कर लेता है, उसी क्षण भीतर से संकल्प जागता है और भय दूर हो जाता है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं कि यह उपदेश उन लोगों के लिए है जिन्हें सुख प्राप्त करने की अभिलाषा है। जिनमें सुख की अभिलाषा ही नहीं है, जो उपद्रवी, हठी और उद्दण्ड हैं, जो उन्नति और उत्कर्ष को चाहते ही नहीं–उनके लिए संसार में अनेक खोटे कार्य पड़े हैं। परंतु जिसे स्व-पर की उन्नति करना है, जिसे स्वात्मोत्थान करना है, उसके लिए यह उपदेश है। ऐसे व्यक्तियों को आचार्यों के वचनों को अपने हृदय में स्थापित करना चाहिए। जैसे भक्त के लिए वेदी पर सिंहासन पर भगवान विराजमान किए जाते हैं, तभी उसका सिर झुकता है–वैसे ही इन वचनों को भी हृदय-सिंहासन पर स्थापित करना चाहिए। जब किसी भव्य जीव के हृदय में आचार्य की वाणी बैठ जाती है और वह उसे धारण कर लेता है, तो वह अपने जीवन को भी उसी दिशा में लगा देता है।

आचार्य महोदय वीरसेन स्वामी ने श्रावकधर्म के चार प्रकार बताए–**'दाणं पूया-सील-मुववासं सावय-धम्मो'** दान, पूजा, शील और उपवास श्रावक के चार धर्म हैं। यदि वैदिक परम्परा की दृष्टि से कहा जाए तो ये चारों धर्म चारों वेदों के सार के समान हैं। अथवा यूँ कहें कि ये जिनशासन के चार अनुयोगों का सार हैं, ये चारों धर्म चारों कषायों पर प्रहार करने के अस्त्र हैं। ये चारों धर्म चार पुरुषार्थों की सिद्धि करने का निमित्त हैं। चारों तीर्थधामों की यात्रा का जो फल है, वह भी इन धर्मों के पालन से प्राप्त हो सकता है। ये धर्म जीवन के चारों चरणों को सार्थक करने वाले हैं। ये चार धर्म चतुर्गति रूप संसार परिभ्रमण से मुक्ति का परम्परा से कारण हैं, उसका साक्षात् हेतु कुछ और है।

आचार्य भगवन् चामुण्डरायजी ने चारित्रसार ग्रंथ में लिखा है–**''दानं पारम्परेण मुक्ति-कारणं''** 'दान परम्परा से मुक्ति का कारण है', और रत्नत्रय की साधना साक्षात् मुक्ति का कारण है। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। जैसे कोई व्यक्ति पूछे–''आप कहाँ से आए?'' तो उत्तर मिलता है–''मैं जयपुर से सीधे फरीदाबाद आया हूँ'' और यदि साथ आया हुआ मित्र कहे–भैया, मुझे दिल्ली में कुछ काम था, इसलिए मैं अपना कार्य निपटाकर फिर फरीदाबाद आया हूँ।'' तो जो व्यक्ति सीधे आया वह मानो साक्षात् ही पहुँच गया; और जिसने बीच में अपना काम निपटाया वह परम्परा से आया। इसी प्रकार जो जीव उसी भव में मोक्ष

को प्राप्त कर लेता है, वह साक्षात् मुक्ति का कारण व्यवहार रत्नत्रय एवं निश्चय रत्नत्रय कहलाता है। और जो श्रावक धर्म का पालन करके पहले स्वर्ग के सुखों का भोग करता है, फिर मनुष्य जन्म पाकर राजा-महाराजा बनता है। उसके बाद पुनः वैराग्य को प्राप्त कर दीक्षा ग्रहण करता है, तप करता है और अंततः मोक्ष को प्राप्त करता है। एक भव, दो भव, चार भव—जितने भी भव लगें इस प्रकार क्रम से प्राप्त होने वाली मुक्ति को परम्परा से मोक्ष कहा जाता है। इसी तरह श्रावक धर्म भी परम्परा से मुक्ति का कारण माना गया है। आचार्य भगवन् श्री जिनसेन स्वामीजी ने आदिपुराण में श्रावकधर्म के विषय में कहा है—

दानं प्रदत्त मुदिता मुनिपुङ्गवेभ्यः,
पूजां कुरुध्व - मुपनस्य च तीर्थकृद्भ्यः।
शीलानि पालयत् पर्व - दिनोपवासान्,
विष्मार्ष्ठ मा स्म सुधियः सुखभीप्सवश्चेत्॥ 16/276

आचार्य महोदय का यह काव्य निश्चित ही अत्यंत हृदयग्राही है। इसमें चार बातें कही गई हैं। पहली बात कही—"**दानं प्रदत्त मुदिता मुनिपुङ्गवेभ्यः**" जो व्यक्ति मुदित मन होकर मुनिराजों को दान देता है, वह मुनित्व को प्राप्त करके पुनः जिनत्व को प्राप्त करता है और अंततः सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है।

जिसने मुनिराजों को दान न दिया, न दिलाया, न ही कभी अनुमोदना की—ऐसा एक भी जीव आज तक मोक्ष

को प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए आचार्यों ने कहा–दान की महिमा को समझना अत्यन्त आवश्यक है। बिना दान दिए कोई भी व्यक्ति श्रावक कहलाने का अधिकारी नहीं होता। आचार्य भगवन् पद्मनंदि स्वामी ने कहा भी है कि जो निर्ग्रंथ साधुओं को चार प्रकार का दान नहीं देते, उनके लिए घर मानों पाशजाल के समान बंधन का कारण ही है। यदि वह श्रावक यथाशक्ति दान नहीं देता है, तो उसका गृहस्थपना निष्फल ही है।

महानुभाव! दान से ही गृहस्थ धर्म की शोभा और उसकी सार्थकता है। दान से ही मनुष्य को इस लोक और परलोक दोनों में यश और पुण्य की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत दान के बिना गृहस्थ–जीवन दोनों लोकों के लिए विनाशकारी बन जाता है। गृहस्थ जीवन में खोटे व्यापारों और व्यवहारों के कारण जो पाप उत्पन्न होते हैं उनके नाश के लिए तथा चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश प्राप्त करने के लिए दानधर्म सर्वश्रेष्ठ साधन है। इससे बढ़कर कोई अन्य उत्तम वस्तु नहीं है। जो मनुष्य केवल लक्ष्मी का संचय करता है और उदारतापूर्वक दान नहीं देता, वह वस्तुतः अपनी आत्मा का ही अहित करता है। ऐसा हम नहीं कह रहे; ऐसा पूर्ववर्ती आचार्यों ने कहा है। यहाँ आचार्य महोदय भी यही उपदेश दे रहे हैं कि जो प्रमुदित मन से, मधुर वचनों के साथ मुनिराज को दान देता है, वह सभी प्रकार के सुखों का भोक्ता होता है।

महानुभाव! दान देने वालों में अनेक महान उदाहरण मिलते हैं। प्रथम चक्रवर्ती भरत हुए; जिन्होंने उसी भव से मोक्ष प्राप्त किया। राजा श्रीषेण दान के प्रभाव से आगे चलकर तीर्थंकर, चक्रवर्ती, कामदेव इन तीन पद के धारी श्री शांतिनाथ भगवान हुए और मोक्ष प्राप्त किया। इसी प्रकार दान देने वाली चंदनबाला आगे भवों में मोक्ष प्राप्त करेगी। दान देने वालों में रामचन्द्र जी, सीता जी, राजा वज्रजंघ, भामण्डल आदि अनेक महान आत्माओं के नाम आते हैं जिन्होंने साधुओं को आहारदान दिया, उन्होंने सद्गति को प्राप्त किया और परम्परा से मोक्ष को प्राप्त किया व करेंगे। आहारदान की महिमा अत्यंत महान है।

महानुभाव! जो मनुष्य महामुनियों के आहारचर्या काल की प्रतीक्षा करते हैं, उन्हें आहारदान देते हैं और उस पुण्य की अनुमोदना करते हैं, वे हरिषेण चक्रवर्ती के समान उत्कृष्ट भोगों को प्राप्त करते हैं और सगर चक्रवर्ती के समान उत्कृष्ट सम्पदा को प्राप्त करते हैं। कुरलकाव्य में भी आचार्य भगवन् ने कहा है कि जो परनिन्दा से भयभीत रहता है एवं भोजन करने से पूर्व अतिथियों को दान देता है, उसका वंश कभी निर्बीज नहीं होता।

महानुभाव! आवश्यक है कि हम दान के इस माहात्म्य को समझें। हमारे यहाँ प्रथमानुयोग में दान के उदाहरण भरे हुए हैं। जिसने भी शुद्ध भावना से, शुद्धद्रव्य, शुद्धक्षेत्र और शुद्धकाल में उत्तम, मध्यम अथवा जघन्य पात्र

को एक बार भी दान दिया है, उसने सर्वोत्कृष्ट फल को प्राप्त किया है। चन्द्रपुर के राजा चन्द्र और रानी धारिणी का पुत्र धरण दाता के सात गुणों से युक्त था। उसने दिगम्बर मुनिराज को आहार दिया, जिसके पुण्य फल से वह आगे चलकर राजा दशरथ बना। इसी प्रकार एक आरम्भक नामक द्विज को जैन संगति प्राप्त हुई। उसने साधुओं की चर्या को जानकर मुनिराज को आहार दिया। उसके फल से वह भोगभूमि और स्वर्ग के सुखों को भोगकर, मनुष्यजन्म के उत्तम सुखों का भोक्ता सगर नामक चक्रवर्ती हुआ। इसी प्रकार अग्निला ब्राह्मणी ने वरदत्त मुनिराज को आहारदान दिया। उसके पुण्य के प्रभाव से वह आगे चलकर भगवान नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका (कहीं-कहीं जिनका नाम कुष्मांडिनी भी आता है) बनी और अंततः मोक्ष को प्राप्त करेंगी। जिनागम आहारदान की महिमा से परिपूर्ण है। जिसने भी अपने श्रावक धर्म का पालन करते हुए आहारदान दिया, उसने परम्परा से अनेक सुखों को प्राप्त किया और अंततः अनंत सुख के मार्ग को प्राप्त किया।

सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य भगवन् श्री नेमिचन्द्र स्वामी जी ने 'त्रिलोक सार' ग्रंथ के नरतिर्यग्लोकाधिकार में कहा है–

एत्थ मुदा णिरयदुगं णिरयतिरक्खादु जणणमेत्थ हवे ॥863॥

इस युग में प्रायः नरक व तिर्यंच गति से जीव आते हैं और वहीं चले जाते हैं। अब विचार कीजिए कि नरक का

कारण क्या है? पाप। और पाप का कारण? दरिद्रता। दरिद्रता का कारण? दान न देना। कितना स्पष्ट है कि प्रत्येक दाता को निश्चित ही निःकांक्ष भाव से दानशील बनना चाहिए।

नत्थि चित्ते प्रसन्नम्हि अप्पका नाम दक्खिणा।।

–(पालीभाषा, विमानवत्थु 1-48-804)

प्रसन्नचित्त से दिया गया अल्पदान भी अल्प नहीं होता।

आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी जी ने तो कहा है कि जिस प्रकार उत्तमक्षेत्र में बोया गया वट का छोटा सा बीज बहुत बड़ा वृक्ष बन जाता है, उसी प्रकार महापात्र-मुनिराज को दिया गया थोड़ा सा दान भोगभूमि आदि में अनेक गुना फल प्रदान करता है।

महानुभाव! जिस प्रकार गाय घास खाती है, परंतु मनुष्यों के लिए अमृत के समान दूध देती है, उसी प्रकार मुनियों के लिए दिया गया थोड़ा आहार भी स्वर्ग और मोक्ष रूपी महान फल को प्रदान करता है। इसीलिए आचार्य महोदय ने कहा है कि प्रसन्नतापूर्वक मुनिराज को दान देना चाहिए। जो मनुष्य परीषहजयी, वैरागी, कर्मनाश में उद्यत, निस्पृह और निर्ग्रंथ साधुओं को नगर में अथवा अपने घर पर आया हुआ देखकर भी उनका सम्मान नहीं करता, उन्हें दान नहीं देता तो वह वास्तव में मिथ्यादृष्टि है, धर्म से शून्य है। वह न तो श्रावक धर्म को जानता है और न ही पात्रदान के माहात्म्य को समझता है। वह यह भी नहीं समझता कि दान की प्रवृत्ति के बिना श्रावक के घर की शोभा नहीं होती।

जो जीव मुनियों के प्रति अनादर का भाव रखता है, तो उसके विषय में आचार्य भगवन् जिनसेन स्वामी जी ने आदिपुराण में कहा है कि—मन से मुनियों का अनादर करने से मन की शक्ति नष्ट हो जाती है, वचनों से अनादर करने से वाणी शक्ति भंग हो जाती है (अर्थात् व्यक्ति गूँगा हो जाता है) और शरीर द्वारा मुनियों का अनादर करने से ऐसा कोई दु:ख नहीं रहता जो उसे प्राप्त न हो। इसीलिए अत्यंत प्रीतिपूर्वक, हर्षभाव से और वात्सल्य से भरकर आहारदान जैसी शुभ क्रिया करनी चाहिए। एक अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक भी नवधाभक्ति पूर्वक निर्ग्रंथ साधुओं की आहारचर्या में सहयोगी बनकर भावहीन व्रती से अधिक कर्मों की निर्जरा कर लेता है। आचार्य भगवन् रविषेण स्वामीजी ने पद्मपुराण में कहा है—

विघ्नानां नाशनं दानं, रिपूणां वैरनाशनम्।
पुण्यस्य समुपादानं महतो यशसस्तथा।।96/17।।

दान विघ्नों का नाश करने वाला, शत्रुओं के बैर को दूर करने वाला, पुण्य को बढ़ाने वाला और महान यश का कारण है।

पुण्याश्रव कथा कोश में कथा आती है कि अनेक उत्तम गुणों से युक्त भामण्डल आहारदान के प्रभाव से उत्तम भोगभूमि में उत्पन्न हुआ। विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में स्थित रथनूपुर नगर में सीता देवी का भाई व विद्याधरों का चक्रवर्ती प्रभामण्डल राजा का राज्य था और अयोध्या में सेठ कदम्बक

रहते थे। सेठानी अम्बिका के अशोक और तिलक नाम के दो पुत्र थे। पिता कदम्बक और दोनों पुत्र सीता के परित्याग की बात सुनकर द्युतिभट्टारक के समीप दीक्षित हो गए।

एक बार तीनों मुनि ताम्रचूड़पुर में स्थित चैत्यालयों की वंदना के लिए जा रहे थे कि मार्ग में 50 योजन विस्तार वाले सीतार्णव नामक वन के मध्य में पहुँचने पर चातुर्मास का समय निकट आ गया। इसलिए वे तीनों मुनि वहीं वन में वर्षायोग हेतु ठहर गए। उसी समय प्रभामण्डल इच्छानुसार घूमता हुआ वहाँ से निकला। उसने मुनियों के उपसर्ग को देखकर वहीं स्थित ग्राम में रुककर भक्तिभाव से उन्हें आहारादि देना प्रारम्भ किया। वह प्रतिदिन नवधाभक्ति-पूर्वक मुनियों को आहार देता था। इस प्रकार उसने बहुत पुण्य का संचय किया। तत्पश्चात् वह अपने नगर पहुँचा और बहुत समय तक राज्य करता रहा। यद्यपि उसके मन में बार-बार भावना होती थी कि मैं भी मुनि बनूँगा। जब भी वह सुनता कि राम ने दीक्षा ले ली, हनुमान ने दीक्षा ले ली, तब वह कहता-''मैं भी एक दिन निर्ग्रंथ बनूँगा।'' किन्तु संभवतः इतना सम्यक् पुरुषार्थ वह नहीं कर पाया। एक दिन रात्रि में अकस्मात् बिजली गिरी और उसकी मृत्यु हो गई। वह निर्मल दान के प्रभाव से उत्तम भोगभूमि में उत्पन्न हुआ।

महानुभाव! जब विषयानुरागी, सम्यक्त्व से रहित होकर भी वह प्रभामण्डल मुनिदान के फल से भोगभूमि में उत्पन्न हुआ, तब भला सम्यग्दृष्टि जीव को उसी दान के फल

से कौन-कौन सी विभूतियाँ प्राप्त नहीं होंगी? अरे! वह तो मोक्ष सुख को भी प्राप्त कर सकता है। सोमदेव आचार्य ने कहा है—हे भव्यजीव! तूने जो न्यायपूर्वक द्रव्य कमाया है, उसको सत्पात्र रूपी खेत में बो दे तो तेरे पुण्य की फसल लहरा जाएगी और रत्नत्रय का फल (मोक्ष सुख) तुझे प्राप्त हो जाएगा।

महानुभाव! दान के विषय में हमसे अधिक तो आप भी अनेक उदाहरण जानते होंगे। आपने भी अपने जीवन में दान दिया होगा। दान देने में जो आनंद आता है वह स्वयं खाने में नहीं आता। लोग कहते हैं—"जो आनंद आता है खिलाने में, वो नहीं आता है कभी खाने में।" जो व्यक्ति खिलाना जानता है, वह उसी में आनंद अनुभव करता है। जिसने कभी किसी को खिलाया नहीं, वह कहता है—"बस! क्या खिलाना, खाओ-पीओ और मस्ती करो।" महानुभाव! नवधा भक्तिपूर्वक, श्रद्धा आदि सप्त गुणों से युक्त होकर, दाता के पाँच भूषणों से सम्पन्न तथा पाँच दूषणों से रहित होकर आनंद के साथ दान देना है।

"**दान देय मन हरष विशेषे, इह भव जस परभव सुख देखे**" दान देते समय ऐसा नहीं होना चाहिए कि चेहरा उतरा हुआ हो, बीमार सा लगे या किसी दूसरे की वस्तु उठाकर दे दी हो। दान तो स्वयं अपने परिश्रम से अर्जित द्रव्य से देना चाहिए और उस द्रव्य में अपने भाव भी जोड़ने चाहिए; तभी वह दान सार्थक होता है।

आगे कहा गया है–**''पूजां कुरुध्व-मुपनस्य च तीर्थ-कृद्भ्यः''** जिन महानुभावों ने श्रद्धा और भक्ति के साथ जिनेन्द्र प्रभु की पूजा की, उन्होंने पूज्यता को प्राप्त किया। आज तक ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है जिसने किसी की पूजा नहीं की हो और पूज्यता को प्राप्त कर लिया हो। जिस पथ के अनुयायी जिस पूज्य की पूजा करते हैं, वे भी उसी मार्ग से पूज्यता को प्राप्त करते हैं। पूजा किसे कहते हैं? इस विषय में आचार्यों ने कहा है–**''पुज्जस्स गुणा पडि सहजा किरिया भावो वा पूया''** पूज्य के गुणों के प्रति जो सहज क्रिया या भाव होता है, वही पूजा है। पूज्य कौन है? तो कहा है–**''लोगेसु सव्वुक्किट्ठो पूया-जोग्गो पुज्जो''** जो लोक में सर्वोत्कृष्ट पूजा के योग्य होता है, वही पूज्य कहलाता है। ऐसे पूजनीय हैं–वीतरागी जिनेन्द्रप्रभु, पंचपरमेष्ठी भगवान और नव देवता, इनकी पूजा करनी चाहिए। इनकी अर्चना करने से पाप कर्म नष्ट हो जाते हैं। जिनपूजा के समान कोई भी कल्याणकारी मार्ग नहीं है।

महानुभाव! पूजा, पूजक को भी पूज्य बना देती है। जिसने भी शुद्ध मनोभावों से, किसी भी निजी द्रव्य से भावसहित पूजा की, उसने शुभ फलों को प्राप्त किया। एक मेंढक अपने मुख में कमलपुष्प की पंखुड़ी दबाकर भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में भक्ति-अर्चना के लिए जा रहा था, किन्तु राजा श्रेणिक के हाथी के पाँव तले दब जाने से उसकी मृत्यु हो गई। परंतु जिनपूजा के भावों के

कारण वह राजा श्रेणिक से पहले ही देव बनकर भगवान के समवसरण में पहुँच गया।

यदि वह तिर्यंचगति का जीव भी पूजा के भावों से देवत्व को प्राप्त कर सकता है तो फिर हम और आप यदि द्रव्य और भाव की शुद्धि के साथ जिनेन्द्रप्रभु की अर्चना करें, गुणानुवादन करें, तो क्या अनुपम सुखों की प्राप्ति नहीं होगी? अवश्य होगी। आचार्यों ने लिखा है–

पूजया लभते स्वर्गः पूज्यो भवति पूजया।
ऋद्धिवृद्धिकरी पूजा, पूजा सर्वार्थसाधनी।।

पूजा से मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करता है, पूजा से वह स्वयं पूज्य बनता है, पूजा ऋद्धि–सम्पत्ति की वृद्धि करने वाली तथा सर्व कार्यों को सिद्ध करने वाली होती है।

महानुभाव! जो व्यक्ति नियम से शक्ति के अनुसार अर्हन्त भगवान की पूजा करता है, वह केवल पूजा के संकल्प मात्र से पूज्यपदों को प्राप्त कर लेता है। आपने देवपत–खेवपत का नाम सुना होगा। जिन्होंने शिखरजी की वंदना का भाव बनाया। यद्यपि उनके पास इतना द्रव्य नहीं था कि वे शिखरजी की यात्रा कर पाते; किन्तु उनके सेठजी ने शिखरजी की यात्रा का भाव बनाया। तब वे दोनों पुत्र भी बोले–"सेठजी! हम आपकी यात्रा मे सेवा करते रहेंगे, हम भी शिखरजी चलेंगे।" चलते समय उनकी माँ ने उनकी पोटली में बाँधकर कुछ ज्वार के दाने दे दिए

और कहा—बेटा! भगवान के द्वार पर कभी खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। तुम जब भगवान के दर्शन करना तब ये दाने भगवान की वेदी पर चढ़ा देना।''

दोनों बालकों ने वह पोटली संभालकर रख ली। जब शिखरजी पहुँचे, तो सभी यात्री दिन में वंदना करते थे। वे दोनों भाई रात्रि में, जब सब सो जाते, तब वंदना के लिए निकलते और भाव सहित वे ज्वार के दाने हर टोंक पर चढ़ाते। अगले दिन जब सेठजी वंदना को गए, तो उन्होंने देखा कि उनसे पहले कोई, उनसे भी बड़ा सेठ आकर यहाँ रत्न चढ़ाकर भगवान के दर्शन करके चला गया है। उन्होंने पता लगवाया कि वह कौन है। किन्तु वहाँ तो कोई और नहीं था। बाद में पता चला कि ये दोनों पुत्र रात्रि में वंदना करने चले जाते हैं। कहीं इन्होंने ही वे रत्न चुराकर तो नहीं चढ़ाए, इस विचार से उनकी परीक्षा ली गई।

वे बालक भगवान के सामने कहने लगे—हे भगवन्! हमने कोई चोरी नहीं की। हमने तो अपनी माँ के द्वारा दिए गए ज्वार के दाने ही चढ़ाए थे। भगवान! हम गरीब अवश्य हैं, पर चोर नहीं हैं।'' इसके बाद उन्होंने पुनः निर्भीकता और अत्यंत विशुद्ध भाव से वे ज्वार के दाने चढ़ाए, और चढ़ाते ही उनकी जिनभक्ति के प्रभाव से वे ज्वार के दाने रत्नों में परिवर्तित हो गए। राजा और सभी यात्री यह दृश्य देखते रह गए।

महानुभाव! यह आवश्यक नहीं है कि हम क्या चढ़ा रहे हैं; आवश्यक यह है कि हम कैसे चढ़ा रहे हैं। वस्तु का मूल्य कम होता है भावों का मूल्य अधिक होता है। या यूँ कहें कि भाव अमूल्य होते हैं, उनका कोई मोल नहीं होता। जिस-जिस ने भी भावों से कुछ अर्पण किया, या यूँ कहें जिसने निःकांक्ष भाव से प्रभु चरणों में अपना समर्पण कर दिया, उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया।

ब्रह्मपुरी के राजा महासेन बहुत बड़े जिनभक्त थे। उसके यहाँ एक पुरोहित था। उसकी पत्नी ने जल से प्रभु की पूजा की और अभीष्ट फल को प्राप्त किया। रत्नसंचयपुर नगर में राजा रत्नशेखर बहुत मुनिभक्त थे। उन्होंने मार्ग में सुगंध से जिनप्रभु की पूजा की, जिससे उन्होंने देवपद को प्राप्त किया। श्रीपुर के राजा श्रीधर ने धान्य के बाल सहित अक्षत से पूजा करने का भाव बनाया, जिसके प्रभाव से उन्होंने क्रमशः मोक्ष को प्राप्त किया।

महानुभाव! वे मालाकार की दो पुत्रियाँ—पुष्पलता और कुसुमवती—जिन्होंने संकल्प लिया था—हे भगवन्! हम जब-जब भी बाग में पुष्प चुनने जाएँगी तब-तब आपकी देहरी पर अपनी श्रद्धा का एक पुष्प प्रतिदिन चढ़ाएँगी और वे दोनों बहनें प्रतिदिन अपना यह नियम पूर्ण करती थीं। किन्तु एक दिन दोनों बाग में फूल चुनने गईं, तभी दोनों का पैर एक सर्प पर पड़ गया, और सर्प ने उन्हें डस लिया, जिससे वहीं उनकी मृत्यु हो गई। मरण के समय दोनों के मन में

यही भाव था– ''हे भगवन्! आज हम बाग में फूल चुनने तो आए किन्तु आपकी देहरी तक आकर श्रद्धा का पुष्प अर्पित नहीं कर पाए। हमारा नियम अपूर्ण रह गया।'' और वे जिनपूजा के भाव से सौधर्म इन्द्र की नियोगिनी देवियाँ बन गईं।

लाट देश के भृगुकच्छ नगर में एक धर्मात्मा व्यक्ति था। उसने मुनिराज के मुख से नैवेद्य से पूजन करने का महत्व सुना। सुनकर उसने चरु से भगवान की पूजा की और देव अवस्था को प्राप्त किया।

मेघनगर में रुद्रदत्त नामक एक व्यक्ति था। उसकी पतिव्रता पत्नी थी। उसने दीप से भगवान की पूजा की, जिससे वह स्वर्ग अवस्था को प्राप्त हुई और आगे मोक्ष को प्राप्त करेगी–ऐसा आगम में पढ़ने में आता है। और एक कमलपति नामक राजा के विषय में भी आता है, जिसने धूप से जिनेन्द्रप्रभु की पूजा की। मगध देश में श्रीपाल नाम का राजा था, उसने वन में प्रतिमा का निर्माण कराया और प्रतिदिन फूलों से उसकी पूजा किया करता था, जिसके फलस्वरूप उसने अपार अभ्युदय सुखों को प्राप्त किया।

महानुभाव! आचार्य महोदय यहाँ यही कह रहे हैं कि जो भी जिनेन्द्रप्रभु की अर्चना, महार्चना, महाविधान आदि सम्पन्न करता है, कराता है अथवा उसकी अनुमोदना करता है, वह निश्चित ही पूज्यता को प्राप्त करता है। जिनेन्द्रप्रभु की पूजा से सर्व विघ्नों का नाश होता है, सभी बाधाएँ

विलय को प्राप्त होती हैं और मन आनंद से भर जाता है। इसलिए सदैव जिनपूजा में अपना समय, अपना तन, अपना मन, अपना वचन और अपना धन लगाओ।

आचार्य भगवन् सोमदेव सूरी ने कहा है—यदि मुक्ति की भावना भाते हो तो सदैव तीर्थंकर की भक्ति और आराधना करो, चतुर्विध संघ को भक्तिपूर्वक दान दो तथा उनकी पूजा करो। बिना भक्ति के मुक्ति का बीज प्राप्त नहीं होता। इसलिए जिनेन्द्र भगवान की आराधना करो, जिससे आप भी आराध्य बन सको।

आगे कहा है—**''शीलानि पालयत् पर्व दिनोपवासान्''** पर्व के दिनों में शीलव्रत का पालन करो। अर्थात् यदि आप आजीवन शीलव्रत धारण नहीं कर सकते, तो कम से कम पर्व के दिनों में—अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टाह्निका पर्व तथा दशलक्षण पर्व आदि में तो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन अवश्य करना चाहिए। आचार्यों ने कहा है ''सीलवंतस्स सीलं हु भूसणं वरम्'' शीलवान् नर का शील ही उसका श्रेष्ठ आभूषण होता है। आचार्य भगवन् वसुनन्दी जी मुनिराज, जो लगभग हजार वर्ष पूर्व हुए थे, उन्होंने अपने ग्रंथ वसुनंदी श्रावकाचार में कहा है—

पव्वेसु इत्थिसेवा अणंगकीड़ा सया विवज्जंतो।
थूलयड-बंभयारी जिणेहि भणिओ पवयणम्मि॥212॥

अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व के दिनों में स्त्री सेवन और सदैव अनंग क्रीड़ा का त्याग करने वाले जीव को प्रवचन

में, अर्थात् भगवान की दिव्यध्वनि में, स्थूल ब्रह्मचारी कहा है।

पण्डित गणेश प्रसाद वर्णी जी के विषय में आता है कि वे सिटी के उदासीन आश्रम में रहते थे और उनकी धर्मपत्नी गाँव में परिवार के साथ रहती थीं। वर्णी जी को उनकी चिन्ता रहती थी क्योंकि उनका स्वास्थ्य नाज़ुक रहता था। एक दिन घर से पत्र आया। उसमें लिखा था कि गणेश प्रसाद की पत्नी का देहांत हो गया है। उसे पढ़कर वर्णी जी नाच उठे। लोगों ने पूछा—इस उम्र में नाचने का क्या कारण है? उनसे पूछा गया—आप पत्र पढ़कर नाचने क्यों लगे? वे बोले—''मेरी पत्नी चली गई, इस खुशी में नाच रहा हूँ। आज मैं अच्छी तरह स्वतंत्र हुआ हूँ। मैं अपनी आत्मा का शृंगार करूँगा और एकत्व-विभक्त आत्मा को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करूँगा।''

महानुभाव! शील व्रत की महिमा अपरम्पार है। शील के प्रभाव से जल, स्थल और अग्नि भी शीतल हो जाते हैं। शीलव्रत चित्त की पवित्रता का कारण है, इसलिए शील ही शिवत्व और आनंद का कारण है। जैसे धनिक व्यक्ति का आभूषण सज्जनता है, शूरता का आभूषण क्षमा है, ज्ञान का आभूषण विनय है, धन का आभूषण पात्रदान है; वैसे ही सभी प्राणियों का आभूषण शीलधर्म है। इस शीलधर्म का पालन व्रत और पर्व के दिनों में अवश्य ही करना चाहिए। जो व्यक्ति व्रतों और पर्वों में भी स्त्री-सेवन करते हैं, वे घोर पाप कर्म के उदय से मरकर विष्ठा में कीड़ा बनते हैं।

महानुभाव! शीलव्रत का महत्व हर परम्परा, आम्नाय और मत में उच्चता को प्राप्त है। कबीरदास जी ने रत्नावली में लिखा है–

सती बनत जीवन लगै, असती बनत न देर।
गिरत देर लागै कहाँ, चढिवो कठिन सुमेर।।

व्यक्ति अपना पूरा जीवन व्यतीत कर देता है अपने जीवन को सदाचारी, शीलवान बनाने के लिए, किन्तु कदाचारी और कुशीलवान् बनने में क्षणभर भी नहीं लगता। जैसे जो व्यक्ति चल रहा हो, उसे गिरने में क्षण भर लगता है; और सुमेरु पर्वत जैसे महान पर्वत पर कोई विरला ही पहुँच पाता है। ऐसे ही जीवन को शीलवान् बनाए रखना अत्यंत कठिन है। अनादिकाल से इस जीव में विषय-भोग के संस्कार कूट-कूटकर भरे हुए हैं। इनसे बचकर निकल पाना ऐसा ही है, जैसे कोयले की खान से धवल और बेदाग होकर निकलना।

जो भव्य पुरुष शीलगुण से सुशोभित होते हैं वे देवताओं के भी प्रिय होते हैं; अर्थात् देव भी उनका आदर करते हैं। जो शीलगुण से रहित हैं, वे श्रुतपारगामी होकर भी तुच्छ और अनादरणीय बने रहते हैं। महाभारत में कथन आता है कि भीष्मपितामह ने अपने संदेश में कहा–''तीनों लोकों का साम्राज्य त्यागना पड़े तो त्याग देना, स्वर्ग का अधिकार छोड़ना पड़े तो छोड़ देना, इससे भी उत्तम वस्तु की प्राप्ति हो रही हो तो वह भी छोड़ देना, किन्तु ब्रह्मचर्य को भंग कभी नहीं करना।''

महानुभाव! इतिहास साक्षी है कि जिन्होंने अपने शीलव्रत का निर्दोष पालन किया, उन्होंने कल्याण-पथ को प्राप्त किया। गृहस्थाश्रम में रहने वाले विजय-विजया निर्दोष और अखण्ड व्रत पालन करने वालों में अद्वितीय आदर्श हैं। इसी प्रकार सेठ जिनदत्त और जिनदत्ता की कथा भी अत्यन्त प्रेरणा-दायक है।

एक बार एक मुनिराज चर्यार्थ एक सेठ के यहाँ अतिथि बने। नवधा भक्तिपूर्वक सेठ के परिवार ने उन्हें आहार कराया, आहार के उपरांत सेठ ने मुनिराज से धर्मोपदेश के लिए सविनय निवेदन किया। तब मुनिराज ने ब्रह्मचर्य के माहात्म्य का वर्णन किया। ब्रह्मचर्य की महिमा सुनकर सेठ के पुत्र जिनदत्त ने शुक्लपक्ष में ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर लिया। जब वह विवाह योग्य हुआ, तब उज्जयिनी नगर के सेठ की पुत्री जिनदत्ता के साथ उसका विवाह निश्चित हुआ। शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी के दिन विवाह सम्पन्न हुआ। विवाह के उपरांत जिनदत्ता जब पति के कक्ष में गई तब जिनदत्त ने कहा–''मेरा शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य का व्रत है। तुम दुःखी मत होना, मन में धैर्य धारण करना।'' जिनदत्ता ने कहा–''प्राणनाथ! यह तो कितना विचित्र संयोग है कि मेरा कृष्ण पक्ष में ब्रहचर्य-व्रत का नियम है। यदि आप मेरी बात मानें तो दूसरा विवाह कर लीजिए। मैं आर्यिका बनकर कल्याणमार्ग पर बढ़ जाऊँगी।

तब जिनदत्त ने कहा–''तुम नारी होकर आत्मकल्याण का विचार रखती हो और मैं पुरुष होकर विषयों की कीचड़

में फँसा रहूँ, यह कैसे संभव है? हम दोनों घर में रहते हुए ही अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे। और यह बात बाहर नहीं जानी चाहिए।'' इसके पश्चात् दोनों ने असिधार व्रत सदृश कठोर ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया।

एक समय नगर की राजपुत्री को कुष्ठरोग हो गया। अनेक वैद्य और हकीमों द्वारा उसका उपचार किया गया, किंतु रोग बढ़ता ही गया। एक दिन संयोगवश उस राजपुत्री को एक दिगम्बर मुनिराज के दर्शन हुए। उसने अत्यंत भक्तिभाव से मुनिराज की वंदना की और अपने रोग के निदान का उपाय पूछा। मुनिराज ने करुणा पूर्वक कहा–''हे पुत्री! तुम्हारे ही नगर में अखण्ड ब्रह्मचर्य–व्रत का पालन करने वाले सेठ जिनदत्त और सेठानी जिनदत्ता रहते हैं। यदि उनके द्वारा स्पर्शित जल तुम्हारे ऊपर छिड़का जाए, तो तुम्हारा यह रोग दूर हो जाएगा।''

अगले दिन वह राजपुत्री अपने पिता की आज्ञा लेकर सेठ–सेठानी के पास पहुँची। उसने उन्हें प्रणाम किया और मुनिराज द्वारा बताए गए उपाय की जानकारी दी। यह बात सुनकर सेठ का परिवार आश्चर्यचकित रह गया। तत्पश्चात् जिनदत्त–जिनदत्ता द्वारा स्पर्श किए हुए जल को राजपुत्री पर छिड़का गया। जैसे ही जल छिड़का गया, उसका कुष्ठरोग दूर हो गया। जब यह बात नगर में फैल गई तब सभी लोगों ने उनके शीलव्रत की प्रशंसा की। तत्पश्चात् दोनों जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो गए।

महानुभाव! तीनों लोकों में ब्रह्मचर्य से बढ़कर कोई साधना नहीं है। प्रथमानुयोग में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। जिन्हें समझे बिना द्रव्यानुयोग का मर्म समझना सरल नहीं है। शीलव्रत का पालन करने वाले चाहे नर हों या नारी–सभी ने अतिशय को प्राप्त किया है और सुगति को पाया है। चाहे वे सती सीता हों, राजुल हों, अंजना हों, नीलीबाई हों, सुलोचना हों, सुरसुंदरी हों, मदनलेखा हों, अनंगसरा हों, रयणमंजूषा हों, ब्राह्मीसुंदरी हों–इत्यादि अनेक महासतियों के जीवन चरित्र अनुकरणीय हैं। और शीलधर्म में प्रसिद्ध महापुरुष–जम्बूस्वामी, सेठ सुदर्शन, कुबेर सेठ, सेठ विजय, वरांगकुमार, स्वदारसंतोष व्रती राम, जयकुमार, छत्रसाल आदि अनेक ऐसे महापुरुष हुए हैं जिनका जीवन–चरित्र आदर्श और अनुपम रहा है।

अतः यहाँ अचार्य महोदय ने कहा है कि ब्रह्मचर्य अथवा शीलव्रत का पालन यथाशक्ति अवश्य करना चाहिए। कम से कम पर्व–व्रतों के दिनों में तो इसका पालन अवश्य करें। यह शीलव्रत तीनों लोकों में पूजनीय निधि है। जो इसे प्राप्त कर लेता है, वह स्वयं भी पूजनीय बन जाता है।

और अंतिम बात कही–**'पर्व दिनोपवासाम्'** पर्व के दिनों में व्रतों का पालन करना चाहिए और उपवासपूर्वक रहना चाहिए। उपवास क्या है? जब इन्द्रियाँ अपने–अपने विषयों से निवृत्त होकर आत्मा में आकर स्थिर होती हैं, तब उस अवस्था को विद्वान लोग उपवास कहते हैं। आचार्य श्री

चामुण्डराय जी ने चारित्रसार में कहा है कि किसी प्रत्यक्ष फल की अपेक्षा रखे बिना और मंत्रसाधना आदि उद्देश्यों के बिना, जो चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है, वह उपवास कहलाता है।

अज्ञानी जीव अज्ञानवश अत्यंत भयंकर पाप भी कर बैठा हो, तो उपवास के द्वारा वे सब उसी प्रकार भस्म हो जाते हैं, जैसे अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है। जिस प्रकार धूल से धूसरित शरीर वाला मनुष्य जल से निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार उपवास रूपी जल से जीव कर्म रूपी मल से निर्मल हो जाता है। इसलिए व्रतों के दिनों में उपवास अवश्य करना चाहिए। पूज्यपाद श्रावकाचार में आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी ने कहा–

अष्टमी अष्टकर्मान्ता सिद्धिलाभा चतुर्दशी।
पञ्चमी केवलज्ञानं तस्मात् त्रितयमाश्रयेत्।।43।।

अष्टमी अष्ट कर्मों का अन्त करने वाली है, चतुर्दशी सिद्धि प्रदान करने वाली है और पञ्चमी केवलज्ञान की प्राप्ति कराने वाली है। इन तीनों पर्वों के दिन उपवास अवश्य करना चाहिए।

पुण्याश्रव कथाकोश में चण्ड चाण्डाल की कथा आती है। वह अत्यंत दुःखी और कोढी था। उसने श्रद्धापूर्वक उपवास करके देवपर्याय को प्राप्त किया। पुण्डरीकिणी नगरी में राजा श्रीपाल व वसुपाल का राज्य था। उस समय वहाँ नगर के शिवशंकर उद्यान में भीम नामक केवली का समवसरण

आया। वहाँ खचरवती, सुभगा, रतिसेना और सुसीमा नाम की चार व्यंतर देवियाँ आईं। उन्होंने केवली भगवान से पूछा–''हमारा पति कौन होगा?'' तब उन्होंने बताया–इसी नगर में पहले चण्ड नाम का एक चाण्डाल था। उसे राजा वसुपाल ने विद्युद्वेग चोर के साथ लाख के घर में रखकर मरवा डाला था। उसका एक पुत्र था–अर्जुन। उसके शरीर में कुष्ठ रोग हो गया था। इस कारण उसके कुटुम्बियों ने उसे घर से निकाल दिया। वह घर से निकलकर इस समय सुरगिरि पर्वत पर कृष्ण गुफा में संन्यास के साथ स्थित है। वह पाँचवें दिन शरीर त्याग कर तुम्हारा पति होगा।

यह सुनकर वे देवियाँ सुरगिरि पर्वत पर गईं और बोली–''हे अर्जुन! आज से पाँचवें दिन तुम हमारे पति होओगे। ऐसा भीमकेवली ने हमें बताया है। इसलिए तुम परीषह से पीड़ित हो संक्लेश मत करना। ऐसा कहकर वें वहीं स्थित हो गईं। उसी समय कुबेरपाल नामक राजपुत्र वहाँ क्रीडा के लिए आया। उन्हें देखकर वह क्रोध से बोला–''यह चाण्डाल का कोढ़ी है, इसलिए तुम इसे छोड़कर मुझसे अनुराग करो।'' देवियाँ बोलीं–''हम देवगति के जीव हैं और तुम मनुष्यगति के। तुम ऐसी असम्बद्ध बातें क्यों करते हो? यदि तुम्हें भोगों की अभिलाषा हो तो धर्म में निरत हो जाओ। इससे हम लोगों की बात ही क्या, तुम्हें सौधर्मादि स्वर्ग में हमसे भी अधिक विशिष्ट देवियाँ प्राप्त हो सकेंगी।''

वह राजपुत्र वहाँ से चला गया। तभी वहाँ नागदत्तसेठ का पुत्र भवदत्त आया। वह भी उन देवियों पर मोहित हो गया। देवियों ने उसे भी वही उत्तर दिया जो राजपुत्र को दिया था। वह सेठ पुत्र कामवश मृत्यु को प्राप्त हुआ और अपने पिता द्वारा बनवाए गए नागभवन में ''उत्पल'' नाम का व्यंतर देव हुआ। और उधर अर्जुन उन देवियों का 'सुरदेव' नामक देव हुआ।

महानुभाव! जो सामान्य रूप से उपवास करने से भी देव गति को प्राप्त हो सकता है, फिर जो व्रती लोग पर्वों के दिनों में धर्मध्यानपूर्वक उपवास करते हैं, उनकी गति की महिमा का क्या वर्णन! उनके सुख-वैभव की बात ही क्या! **'उववासो वि उवासणा'** उपवास भी उपासना है। उपवास से पाप कर्म क्षीण होते हैं और उपवास से सर्वमनोरथ सिद्ध होते हैं। जब निःकांक्ष भाव से पर्वों में या अन्य दिनों में व्रत किए जाते हैं, तो वे सभी कर्मनिर्जरा के कारण बनते हैं।

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज, जिन्होंने मृतप्राय मुनि (दिगम्बर) परम्परा को पुनः जीवंत किया, वे महान् तपस्वी आचार्य थे। जिन्होंने अपने जीवन में चारित्रशुद्धि व्रत, सोलहकारण व्रत, तीसचौबीसी व्रत, कर्मदहन व्रत, सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत, श्रुतपंचमी व्रत, पर्यूषण व्रत, विद्यमान तीर्थंकरों के व्रत, अष्टाह्निक व्रत, सिद्धों के व्रत, गणधर वलयव्रत तथा इसके अतिरिक्त अन्य अनेक उपवास भी किए। इस प्रकार उनके द्वारा किए गए उपवासों

की कुल संख्या 9938 अर्थात् लगभग दस हजार के निकट थी। उन्होंने अपने जीवन में नौ करोड़ महामंत्र की जाप की तथा अन्य मंत्रों की भी निरंतर जाप करते रहे। महानुभाव! ऐसे महान आचार्य, जिन्होंने 84 वर्ष की उम्र में 36 दिन की यमसल्लेखना द्वारा समाधिमरण को प्राप्त किया–ऐसे तपोधन श्रेष्ठ आचार्य श्री का यह विलक्षण व्यक्तित्व था।

महानुभाव! आगम में अनेक महापुरुषों के नाम आते हैं, जिन्होंने निष्ठापूर्वक व्रतों का पालन किया, पर्वों में उपवास किए और महान अवस्थाओं को प्राप्त हुए। सभी तीर्थंकरों ने उपवास किए, प्रथम कामदेव बाहुबली भगवान एक वर्ष का उपवास कर स्थित हुए। कीर्तिधर और सुकौशल मुनिराज; जो चातुर्मासिक योग धारण कर उपवास पूर्वक स्थित रहे और उपसर्ग को समतापूर्वक सहन किया। पञ्चमी व्रत को निष्ठा से पालन करने वाले नागकुमार हुए। तुंगभद्रा, जिसने मौन एकादशी व्रत को विशुद्धिपूर्वक किया और अगले भव में सुकुमाल मुनि बने। पूतिगंध व पूतिगंधा जिन्होंने रोहिणी व्रत किया और व्रत के प्रभाव से रोहिणी-अशोक हुए–उन्हें तो दुःख का नामनिशान भी ज्ञात नहीं रहा। ऐसे अनेकों भव्यजीव हैं, जिन्होंने उपवास रूपी श्रेष्ठ तपके द्वारा पाप –कर्मों की निर्जरा की। उपवास करने से कर्मों की निर्जरा उसी प्रकार होती है, जैसे सूखे जंगल में अग्नि लग जाने पर सब कुछ भस्म हो जाता है।

महानुभाव! यहाँ आचार्य भगवन् जिनसेन स्वामीजी ने अपनी करुणादृष्टि से श्रावकों को सुख का मार्ग दिखाने

के लिए चार मुख्य साधन बताए हैं—दान, पूजा, शील और उपवास। ये चारों श्रावक के लिए शाश्वत सुखद मार्ग को प्राप्त करने के साधन हैं, इन्हें निष्ठापूर्वक करने से शिवत्व की प्राप्ति होती है। आप भी इन चारों साधनों को अपने जीवन में यथाशक्ति अपनाएँ और सम्यक् फल को प्राप्त करें—ऐसी हम भावना भाते हैं। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ...

श्री शांतिनाथ भगवान की जय!

धन की गति

महानुभाव! प्रत्येक व्यक्ति के पास आत्म उत्थान के लिए चार साधन होते हैं। प्रथम उसके पास तन है, द्वितीय वचन है, तृतीय मन और चतुर्थ धन, वस्तु तथा साधन-सामग्री। इन चारों का सदुपयोग करके वह आत्महित में प्रवृत्त हो सकता है और इनका दुरुपयोग करके अपनी आत्मा का पतन भी कर सकता है।

आचार्य कुमार स्वामी कार्तिकेय परम तपस्वी, आध्यात्मिक और लोकव्यवहार के निष्णात ऐसे आचार्य हुए, जिन्होंने अपने जीवन में अनेक प्रतिकूलताओं को सहन करते हुए परम वैराग्य को प्राप्त किया। जीवन में संघर्ष का सामना करते हुए उन्होंने अपने समताभाव को कभी नष्ट नहीं होने दिया।

जिस प्रकार आँधियों में दीपक जलाकर रखना और उसे बुझने न देना कठिन होता है, उसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थिति में अपनी समता को बनाए रखना, उससे भी अधिक कठिन होता है। लोहे के चने चबाना सरल है, अग्नि के दरिया में तैरना सरल है, एवरेस्ट की चोटी पर चढ़ना भी सरल है; किन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों में अपने परिणामों में समता बनाए रखना अत्यंत कठिन है।

आचार्य भगवन् ने अपने अनुभव की कसौटी पर कसकर प्रत्येक गाथा को भव्य जीवों के लिए प्रस्तुत किया। आचार्य

स्वामी कार्तिकेय ने मानो द्वादशांग का सार इन द्वादश अनुप्रेक्षाओं में भर दिया। अनित्यादि बारह भावनाओं का स्वरूप इतने सहज-सरल शब्दों में बताया गया है कि कोई प्रारम्भिक अध्ययन करने वाला पुरुष भी बिना किसी के सहारे इन गाथाओं का अध्ययन करे, तो वह उनके अर्थ को हृदयंगम कर सकता है और अपनी वृत्ति को सुधार सकता है। इन गाथाओं का अध्ययन करने से उसकी प्रवृत्ति हेय-उपादेय बुद्धि को उत्पन्न करती हुई हित के मार्ग में प्रवृत्त हो सकती है।

यहाँ आचार्य महोदय बता रहे हैं कि जो धन है, वह व्यक्ति के हितमार्ग में किस प्रकार प्रवृत्त हो सकता है और वही धन तथा अन्य साधन-सामग्री का दुरुपयोग करके अपनी आत्मा का घात भी किया जा सकता है। आचार्य महोदय मन-वचन-काय की बात बाद में कहेंगे।

आचार्य उमास्वामी जी महाराज ने भी जब योग की चर्चा की, तो मन-वचन-काय नहीं कहा, बल्कि **'काय-वाङ्मनः कर्म योगः'** पहले शरीर को लिया, जिसके माध्यम से आस्रव सबसे कम होता है; वह दृष्टिगोचर है, प्रत्यक्ष दिखाई देता है। उसके बाद वचन को लिया, जिसे कर्णइन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। वह शब्द पौद्गलिक-औदारिक और वैक्रियिक शरीर की अपेक्षा से सूक्ष्म है। उसके बाद मन को लिया, जो मनोवर्गणाओं के माध्यम से निर्मित होता है, जिसमें विचारों का प्रवाह और तरंगें उठती हैं।

स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाते हैं, तो बात शीघ्र समझ में आती है; और सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर जाने पर बात समझ में नहीं आती। व्यक्ति जब सीढ़ी चढ़ता है, तो पहले पहली सीढ़ी पर पैर रखता है फिर आगे बढ़ता चला जाता है। यदि वह नीचे उतरता है, तो ऊपर वाली सीढ़ी पर पैर रखकर पुनः नीचे गहराई की ओर उतरता जाता है। यदि गहराई पहले मिल जाए, तो आगे जाने का प्रश्न ही नहीं उठता; और यदि ऊँचाई पहले ही कदम पर मिल जाए, तो आगे बढ़ने का अवसर कहाँ रहेगा? ऊँचाई की ओर क्रमशः चढ़ता है और गहराई की ओर क्रमशः उतरता है।

इस प्रकार ये तीन बातें क्रम से कही गईं हैं–काय, वचन और मन। चौथी बात के रूप में आचार्य महोदय यह कह रहे हैं कि काय, वचन और मन का सदुपयोग तो करना ही चाहिए, किन्तु इन तीनों का सदुपयोग वही व्यक्ति कर सकेगा, जिसने अपने पास उपलब्ध साधन-सामाग्री का सदुपयोग करना सीख लिया हो।

जो व्यक्ति अपने पास उपलब्ध वस्तुओं और साधन-सामग्री का सही सदुपयोग करना नहीं जानता, जो धन का सदुपयोग करना नहीं जानता, वह जीवन में तन, वचन और मन का भी सही सदुपयोग नहीं कर पाएगा। इसीलिए आचार्य महोदय ने उस बात को पहले रखा है, जिसके पीछे संसार के प्रायः सभी प्राणी भाग रहे हैं। आज इस दुनिया में प्रत्येक संसारी प्राणी कनक और कामिनी के पीछे दौड़ रहा है।

कनक-कान्ता सूत्रेण वेष्टितं यो सकलं जगत्।
तासु तेसु विरक्तो यो, द्विभुजा परमेश्वराः॥

कान्ता (स्त्री) और कनक (स्वर्ण) इन दोनों ने मानो सारे संसार को बाँध रखा है। इन दो धागों से पूरा संसार बँधा हुआ है। जो व्यक्ति इन दोनों से विरक्त हो जाता है, वह दोनों भुजाओं को लटकाकर के भगवान बाहुबली की भाँति यथाजात दिगम्बर खड़ा हो सकता है। वह वास्तव में परमेश्वर है।

यहाँ पर कहा गया है कि वस्तु भी व्यक्ति को बाँधती है। व्यक्ति का व्यक्ति के प्रति अनुराग रहता है, ठीक उसी प्रकार वस्तुओं के प्रति भी हो जाता है—चाहे वह वस्तु आपके नित्य उपयोग में आने वाली हो या कभी-कभी प्रयोग में आने वाली हो। किन्तु वस्तु ही राग की वृद्धि करने वाली है और वस्तु ही द्वेष की वृद्धि करने वाली भी बन जाती है। क्षेत्र आदि भी राग-द्वेष के वर्धक होते हैं। इसलिए इनका सदुपयोग करना हर व्यक्ति के लिए संभव नहीं होता। जिसकी होनहार अच्छी होती है, जो सम्यक् पुरुषार्थी होता है, जो लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए निरंतर उद्यमशील रहता है, जो आत्मविश्वासी होता है और संकल्प की दृढ़ता होती है—वही धन, साधन-सामग्री और वस्तु का सही सदुपयोग कर सकता है।

महानुभाव! जो व्यक्ति सही सदुपयोग करना नहीं जानता, वह वस्तु उसके लिए अभिशाप का रूप धारण कर लेती

है। इसीलिए कई बार एक भक्त कहता है–हे प्रभो! यदि आप मुझे धन दें तो उसका सदुपयोग करने की बुद्धि भी देना। क्योंकि यदि मैं धन का सदुपयोग नहीं कर सका, तो वही धन मेरे लिए नरकादि दुर्गतियों का कारण बन सकता है। यदि किसी के हाथ में तलवार दे दी जाए और वह उसे चलाना नहीं जानता हो, तो वह उससे स्वयं का घात कर सकता है। इसीलिए तलवार का न होना उतना हानिकारक नहीं है, जितना हानिकारक है तलवार का दुरुपयोग करना।

शास्त्र वाक्यों का दुरुपयोग करने से आत्मा का घात होता है और लक्ष्मी का दुरुपयोग करने से दुर्गति की प्राप्ति होती है। इसीलिए कहा गया है–**'बह्वारंभ परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः'** बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह रखने से नरकगति का बंध होता है।

यदि त्रिखण्डाधिपति राजा भी धन का दुरुपयोग करता है तो वह सातवें नरक में जाता है; और यदि षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती राजा भी दुरुपयोग करता है, तो वह भी नरक में चला जाता है। परंतु यदि वही व्यक्ति धन का सदुपयोग कर ले, तो उसी भव से स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति भी कर सकता है।

यदि किसी व्यक्ति के पास धन है और वह उससे चार प्रकार के दान देता है, तो निःसंदेह वह दान-परम्परा मोक्ष का कारण बनती है। यदि वह सप्तक्षेत्रों में दान दे, तो सप्तम तत्त्व अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का साधन है। और यदि वह

उसका दुरुपयोग करता है, तो इस भव में भी और आगे आने वाले भवों में भी कष्टकारक सिद्ध होता है। आचार्य स्वामी कुमार कार्तिकेय कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में लिखते हैं–

जो पुण लच्छिं संचदि, ण य भुंजदि णेय देदि पत्तेसु।
सो अप्पाणं वंचदि, मणुयत्तं णिप्फलं तस्स॥13॥

जो व्यक्ति लक्ष्मी को प्राप्त करके उसका केवल संचय करता है। न तो स्वयं उसका भोग करता है और न ही पात्रों को दान देता है; ऐसा व्यक्ति अपने मनुष्य भव को निष्फल कर देता है। वह अपनी आत्मा की वंचना करता है अर्थात् अपनी ही आत्मा को ठगता है। आचार्यों ने कहा है–आपको धन कमाना है कमाइए, किन्तु न्यायपूर्वक, अन्यायपूर्वक नहीं। यदि तुम ईमानदारी से कमाओ तो तुम्हारे पास चक्रवर्ती का वैभव भी आ जाए तो भी हर्ज नहीं। न्यायपूर्वक कमाया गया धन आसक्ति का कारण नहीं बनता और उसका दुरुपयोग भी नहीं होता। जो व्यक्ति ईमानदारी से धन कमाता है, उसके एक-एक पैसे का सदुपयोग होता है; परंतु जो बेइमानी, छलकपट, चोरी या झूठ बोलकर धन कमाता है, उसके धन का दुरुपयोग ही होता है। कहा भी गया है–

''जा माया का जे ही स्वभाव, जैसी आवे तैसी जाय।''

अर्थात् धन का स्वभाव ही ऐसा है कि वह जैसा आता है वैसा ही चला जाता है। इसलिए यहाँ कहा गया कि धन कमाओ और उसे मर्यादा पूर्वक भोगो। यदि धन का

उपभोग अमर्यादित ढंग से किया जाता है, तो वह दुःख और अधोगति का कारण बनता है। यदि दान देना हो तो उदारता पूर्वक दो और यदि धन का त्याग करना हो तो विवेकपूर्वक करो। आचार्य भगवन् अजितसेनसूरि जी ने छत्र चूड़ामणि ग्रंथ में लिखा **''नादाने किन्तु दाने हि सतां तुष्यन्ति मानसं''** सज्जन पुरुष लेने से नहीं, बल्कि त्याग और दान देकर ही आनंदित होते हैं। धन सुख का कारण भी बन सकता है। कहा गया है–

बहु धन बुरा हु भला कहिये, लीन पर उपगार सौ।

यदि धन का उपयोग उपकार में होता है, तो जिसे लोग बुरा कहते हैं, वही धन अच्छा भी बन जाता है। यदि आप उसके माध्यम से आत्महित करने में समर्थ हो, तो वह धन वास्तव में सफल और सार्थक सिद्ध होता है।

महानुभाव! लक्ष्मी के बारे में कहा गया है–

लक्ष्मी के सुत चार हैं, धर्म अग्नि नृप चोर।
जहाँ जेठे की कदर नहीं, तीनों लेत बटोर।।

लक्ष्मी के चार पुत्र माने गए हैं–पहला पुत्र धर्म, दूसरा अग्नि, तीसरा राजा और चौथा चोर। यदि व्यक्ति ज्येष्ठ पुत्र अर्थात् धर्म की कदर नहीं करता, तो शेष तीनों पुत्र लक्ष्मी को बटोर लेते हैं। तब वह धन या तो अग्नि में स्वाहा होकर नष्ट हो जाता है, या राजा उसे कर (tax) के रूप में ले लेता है, अथवा चोर चोरी करके उसे ले जाते हैं।

जा धन की गति तीन हैं, दान भोग अरु नाश।
दान भोग यदि नहीं किया, तो निश्चय होत विनाश॥

लक्ष्मी की तीन ही गतियाँ हैं—दान, भोग और नाश। यदि धन का उपयोग दान और भोग में नहीं किया जाता, तो उसका नाश होना निश्चित है। नीतिकार कहते हैं—

पानी बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिए, यही सयानो काम॥

जैसे नाव में पानी भरने लगे तो उसे बाहर निकालना आवश्य होता है। उसी प्रकार जब घर में धन बढ़ने लगे तो उसे दान करके उसका सदुपयोग करना चाहिए, जिससे वह और आगे बढ़े। यदि धन नहीं बढ़ रहा है, तब भी दान देना चाहिए, जिससे धन बढ़ना प्रारंभ हो जाए और यदि धन घट रहा है, तब भी दान करना चाहिए, जिससे हानि का क्रम रुक सके। जैसे नाव में छेद हो जाने से पानी भीतर आने लगता है और यदि उसे समय पर उलीच कर बाहर न निकाला जाए तो नाव डूब जाती है। उसी प्रकार धन की वृद्धि होने पर यदि सदुपयोग नहीं किया जाए तो वह अंततः दुर्गति का कारण बन जाता है।

महानुभाव अपने धन का सदुपयोग करने वाले बहुत से पुण्यात्मा जीव हुए। श्रीपालचरित्र में लिखा है कि यद्यपि चेलना कला-कौशल, रूप, विद्या और शिल्पादि अनेक गुणों से सम्पन्न थी किन्तु उसकी महान् कीर्ति का मुख्य कारण पात्र को दिया गया दान था।

आपने दिल्ली के सेठ हरसुखराय जी का नाम अवश्य सुना होगा। उन्होंने दिल्ली में मंदिर का निर्माण करवाया तथा हस्तिनापुर का बड़ा मंदिर बनवाया। हरसुखराय जी आलमशाह द्वितीय के कोषाध्यक्ष थे। उन्होंने अपने पद का सदुपयोग करते हुए जिनमंदिरों का निर्माण कराया।

ऐसे ही एक घटना महाराज साढोरा के समय की बताई जाती है। राजा का मुनीम सेठ जी से एक लाख रुपये उधार लेकर गया। सेठ जी ने वह धन देते समय अपनी बही में लिख दिया–''मंदिर निर्माण के लिए एक लाख रुपया दान''। कुछ समय बाद राजा का मुनीम वह राशि वापस करने के लिए आया। तब सेठ जी ने कहा–''भैया! कैसा पैसा? मैंने तो तुम्हें कोई पैसा दिया ही नहीं।'' वह दो बार आया किन्तु सेठजी ने उसे वही उत्तर दिया।

तीसरी बार स्वयं राजा उनके पास गया और कहा–सेठ जी, यह क्या बात है? आप अपना पैसा वापस क्यों नहीं लेते? क्या आप मुझे बेईमान सिद्ध करना चाहते हैं? सेठजी ने विनम्रता से उत्तर दिया–''राजन्! मैंने आपको कोई धन उधार दिया ही नहीं''। राजा ने कहा–''आप एक बार अपनी बही खोलकर देख लीजिये, सेठजी ने अपनी बही खोली। राजा और मुनीम ने देखा कि उसमें लिखा था कि–''एक लाख रुपये राजा को दिए। किन्तु आगे यह भी लिखा था–''हस्तिनापुर में जैनमंदिर निर्माण के लिए एक लाख रुपये दान''। यह देखकर सेठजी बोले–''राजन्! जो

धन मैंने दान दे दिया, उसे मैं वापस कैसे ले सकता हूँ?'' राजा को लगा कि जब सेठजी ने दान दे ही दिया है, तो मंदिर का निर्माण कराना ही चाहिए। इस प्रकार हस्तिनापुर मंदिर का निर्माण हुआ।

महानुभाव! ऐसे अनेक धनपति हुए जिन्होंने अपने धन का सदुपयोग किया और जिनशासन की प्रभावना के लिए आत्मधर्म की भावना से प्रेरित होकर सप्त क्षेत्रों में दान दिया। भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत पर त्रिकाल चौबीसी रत्नमयी जिनबिम्बों की स्थापना करके स्वर्णमंदिर का निर्माण कराया। श्री रामचन्द्र जी ने यक्ष के द्वारा प्रदत्त द्रव्य का सदुपयोग करते हुए रामनगर में जिनेन्द्र मंदिरों का निर्माण कराया।

चामुण्डराय जी, जो राजा राचमल्ल के सेनापति थे और समरादित्य आदि नाना उपाधियों से सम्पन्न थे, उन्होंने अपनी माँ की इच्छा की पूर्ति के लिए बाहुबली भगवान की उत्तुंग जिनप्रतिमा का निर्माण कराया। यह निर्माण आज से लगभग 1 हजार 43 वर्ष पूर्व हुआ था। ऐसे अनेक दाता हुए हैं जिन्होंने अपने धन का सदुपयोग किया–जैसे सर सेठ हुकुमचन्द जी, जीवराज पापड़ीवाल, देवपत–खेवपत, भामाशाह, पायल श्रेष्ठी, पाणाशाह, छत्रसाल, अत्तिमब्बे, गुड्डुमब्बे, राजा खारवेल आदि। इन सभी ने अपने धन का सदुपयोग धर्म और समाज की सेवा में किया। किन्तु विशेष बात यह नहीं है। विशेष बात यह है कि जबलपुर

की मढ़ियाजी में एक ऐसी महिला थी जो दूसरों के यहाँ अनाज पीसने का काम करती थी। उसने अपनी मेहतन से, थोड़ा-थोड़ा पैसा जोड़कर, अंततः एक जिनमंदिर का निर्माण करवा लिया। यह निःसंदेह अत्यंत प्रेरणादायक बात है। जिसके पास करोड़ों रुपये हों, वह लाखों रुपये धर्म कार्य में लगा दे, तो यह कोई उतनी बड़ी बात नहीं है; परंतु जिसके पास इतना भी धन न हो कि वह अच्छी तरह से अपना पेट भर सके, फिर भी वह अपने धन का बहुभाग लगभग 80-90 प्रतिशत मंदिर निर्माण जैसे धर्मकार्य में लगा दे, तो निःसंदेह यह अत्यंत महान और अद्वितीय बात है। ऐसा समर्पण अपने आप में अनुपम और अद्वितीय होता है। कहा भी गया है–

गीत न नीत गलीत है जो रखिए धन जोड़।
खाए खर्चे जो बचे, तो जोड़िए करोड़॥

महानुभाव! नीतिकार कहते हैं कि हे मित्र! ये नीति नहीं है। ये तो धिक्कारने जैसी बात है कि मनुष्य अपना पेट काटकर केवल धन जोड़ता ही चला जाए। यदि धन का भोग करके आवश्यक खर्च करने और दान देने के बाद भी धन बचता है, तो उसे अवश्य जोड़ो; किन्तु जो व्यक्ति न तो उचित खर्च करता है और न ही दान देता है, उसका धन मिट्टी के समान है, पाषाण के समान है।

जो व्यक्ति अपने धन का दुरुपयोग करते हैं, वे उसी पाषाण या मिट्टी के समान हो जाते हैं। लोग कहते हैं कि

अमुक व्यक्ति धन को जमीन में गाड़ करके मर गया तो उसी में सर्प बन गया, या बैंक में धन जमा करके मर गया तो लोग कहते हैं कि अब वह कौवा या चील बनकर बैंक की छत पर बैठा रहता है या उसके आसपास मंडराता रहता है। ऐसा इसलिए कहा जाता है धन का दुरुपयोग करने वाला व्यक्ति अंततः दुर्गति को प्राप्त होता है। इसीलिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने धन का समीचीन और विवेकपूर्ण सदुपयोग करे, जिससे सुख और शांति को प्राप्त कर सके।

श्री शांतिनाथ भगवान की जय!

सुख के तीन सूत्र

महानुभाव! संसार में जब भी किसी की उन्नति, उत्थान व आध्यात्मिक विकास होता है, वह सब सुसंस्कारों के कारण होता है। और जब भी किसी जीव का पतन होता है, तो वह कुसंस्कारों के कारण होता है। सुसंस्कार और कुसंस्कार ऊर्ध्वगति व अधोगति के कारण, सुख व दुःख के कारण और शांति व क्लेश के कारण हैं।

जिन जीवों के पास सुसंस्कार रूपी पूँजी है, उन जीवों के पास आध्यात्मिक वैभव प्राप्त करने की कुंजी है। और जिन जीवों के पास कुसंस्कारों की अग्नि है, उन जीवों के पास उस अग्नि में जलने के अलावा कोई चारा नहीं है।

सुसंस्कार जीवन में सत्संगति से, सद्व्रतों से, सम्यग्ज्ञान से, प्रभु-भक्ति, गुरु-सेवा, तीर्थवंदना इत्यादि पुण्यभूत क्रियाओं से आते हैं। निरन्तर पुण्य के कार्य करने से, निरंतर शुभ वचनों का उच्चारण करने से, निरंतर शुद्ध विचार रखने से और निरंतर प्रशस्त वचनों को सुनने से सुसंस्कारों का बीजारोपण होता है। सुसंस्कार संवर्धित होते हैं और ये सुसंस्कार फलित भी होते हैं।

कुसंस्कार जीव में कुसंगति से, पापमय प्रवृत्ति करने से, शरीर से कुचेष्टा करने से, कुवचनों का प्रयोग करने से और दूसरों के बारे में कुविचार करने से, खोटा चिंतन

करने से आते हैं। यदि हमें कुसंस्कारों से बचना है तो उनके कारणों से बचना होगा। और यदि सुसंस्कारों को प्राप्त करना है तो उनके कारणों को प्राप्त करना होगा।

जीवन में सबसे बड़ा दु:खद कारण यदि कोई है तो वह है लोभ। इस लोभ को विज्ञजनों ने, धर्मात्माओं ने, महर्षियों ने, सिद्धान्तविद् निष्णात विद्वान पण्डितों ने पाप का बाप कहा। **'लोभ पाप का बाप बखाना'**। जैसे बिना माता-पिता के संतान की उत्पत्ति नहीं होती, ऐसे ही बिना लोभ के जीवन में पाप संभव नहीं है।

जहाँ लोभ है वहाँ मायाचारी भी है, वहाँ मान भी है और वहाँ नियम से क्रोध भी है। लोभ की पूर्ति नहीं होती है तो जीव मायाचारी करता है। लोभ की पूर्ति हो जाती है तो मान कषाय आ जाती है। और मान कषाय में कोई बाधक होता है तो क्रोध आता है, या कोई मायाचारी प्रकट कर दे तो उस पर क्रोध आ जाता है। अथवा लोभ में जो बाधक बनता है उस पर क्रोध आता है। जहाँ लोभ है वहाँ पाँचों पाप हैं। लोभ होने से परिग्रह में आसक्ति है। जहाँ परिग्रह है वहाँ विषयों का सेवन करने की आकांक्षा है।

जब यह जीव विषयों का सेवन करता है वहाँ अचौर्य नहीं रहता; जहाँ चोरी है वहाँ मिथ्याभाषण, मिथ्यावचन होते हैं। और जहाँ ये चारों होते हैं वहाँ नियम से हिंसा भी होती है। इसलिए लोभ को पाप का बाप कहा।

नीतिकारों ने सुखी जीवन के लिए घटक बताया—इन तीनों को छोड़ दो तो संभव है आप दुर्गति से बच जाओगे और कालान्तर में तीन प्रकार के कर्मों को नष्ट करने में समर्थ हो जाओगे। वे कारण कौन-कौन से हैं? नीतिकारों के शब्दों में सुनते हैं—

लोभमूलानि पापानि, रसमूलानि व्याधयः।
स्नेहमूलानि बंधानि, त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥

सभी पापों का मूल लोभ है, सभी व्याधियों का मूल रसासक्ति है और सभी प्रकार के बंधनों का मूल स्नेह व राग है। इसलिए जो अपने जीवन में सुखी होना चाहता है, वह इन तीनों—लोभ, रसारक्ति और स्नेह का त्याग कर दे।

एक बार एक महात्मा अपने शिष्य के साथ नदी के किनारे-किनारे चले जा रहे थे। कुछ समय पहले बारिश हुई थी, तो बारिश का पानी पर्वत से गिरता हुआ, अन्य नालों से सिमटता हुआ उस नदी में बाढ़ का रूप लेकर बह रहा था। नदी किनारे चलते हुए महात्मा और शिष्य प्रकृति का आनंद ले रहे थे। सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था। उसकी सुनहरी किरणें सामान्य वस्तुओं की भी शोभा को वृद्धिंगत कर रही थी।

अचानक शिष्य की दृष्टि बहते हुए किसी वस्त्र आदि पर पड़ी। उसे लगा शायद बहुत सुंदर, उत्तम कम्बल है। उसने महात्मा से कहा—"गुरुजी! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं नदी में बहते कम्बल को ले आऊँ।" महात्मा जी ने

कहा–''छोड़ो, लोभ में मत पड़ो। शिष्य ने पुनः कहा–''मैं तैरना भी जानता हूँ, सूर्य पूर्ण अस्त भी नहीं हुआ। जहाँ हमें पहुँचना है वहाँ भी जल्दी पहुँच जाएँगे। आप तो बस आज्ञा दे दीजिए, मैं अभी कम्बल को लेकर आता हूँ।'' महात्मा जी ने कहा–''जब मैं तुझसे-स्पष्ट मना कर रहा हूँ, तो अब आज्ञा देने की बात कहाँ? देखो! लोभ करना अच्छा नहीं है।'' शिष्य ने पुनः कहा–''महात्मा जी! बस एक बार आज्ञा दे दीजिए।'' मैं अभी छलांग लगाकर तुरंत जाकर कम्बल को लेकर आता हूँ। यह काला कम्बल बहुत मोटा है, बहुत अच्छा है। इसे प्राप्त कर यदि हम दोनों बर्फ पर भी लेट जाएँगे तो भी ठंडी नहीं लगेगी। महात्माजी ने तीन बार तो मना कर दिया चौथी बार कहा–''तुझे जैसा अच्छा लगे वैसा कर, मैंने जो कहना था वह कह दिया।'' जो तुम्हें रुचे सो करो। यदि तुम्हें अहितकारक बात अच्छी लग रही है तो वह भी तुम जानो, और हितकारक अच्छी लग रही है तो वह भी तुम जानो। वह शिष्य दौड़कर गया और नदी में छलांग लगा दी और पहुँच गया उस कम्बल के पास।

महात्मा जी ने देखा-शिष्य वहाँ पहुँच गया है और उसने कम्बल को पकड़ लिया है। किन्तु यह क्या! वह कम्बल को खींचकर लाने की कोशिश कर रहा है। जमीन तो थी नहीं, बहता हुआ पानी था। वह शिष्य डूबता-उतराता कभी लगता कम्बल ऊपर है, कभी लगता चेला ऊपर है, जैसे दोनों में कोई भिड़ंत हो रही हो। महात्मा ने कहा–''जल्दी आ जा''। शिष्य चिल्लाया–''महात्मा जी! इस कम्बल ने

मुझे पकड़ लिया।'' ''अरे! कम्बल ने कैसे पकड़ लिया? कम्बल को छोड़कर के आ जा।'' ''महात्माजी! मैं तो कम्बल को छोड़ना चाहता हूँ, किन्तु यह कम्बल मुझे छोड़ना नहीं चाहता।''

महात्मा जी को आश्चर्य हुआ–कम्बल इंसान को कैसे पकड़ सकता है? कम्बल के कोई हाथ-पैर थोड़े ही होते हैं। शिष्य बोला–''महात्मा जी! इस कम्बल के तो बहुत बड़े हाथ-पाँव हैं। इसके सामने तो मेरे हाथ-पाँव बौने पड़ गए। क्या बात है, सही-सही बताता क्यों नहीं, महात्मा जी! आपने सही कहा था, मैं लोभ के चक्कर में पड़ गया था। महात्मा जी! जिसे मेरी लोभ भरी आँखें कम्बल समझ रहीं थीं वह वास्तव में कम्बल नहीं है। फिर क्या है? वह तो कई दिनों का भूखा भालू है। वह नदी में बाढ़ के पानी के साथ बहता आ रहा है। अब यह भूखा भालू मुझे छोड़ेगा नहीं।

महात्मा जी ने कहा–''मैंने तुझको समझाया था। देख! यह नदी तो मैं तैरना जानता नहीं, हाँ, मैं संसार सागर तैरना जानता हूँ। अब तुझे कम्बल छोड़ना है या लाना है, तू जाने तेरा काम जाने, मैं तो यह चला।''

महानुभाव! लोभ में आकर के किस-किस व्यक्ति ने दुःख नहीं उठाया? दाने के लोभ में एक चिड़िया रेलवे की पटरी पर पड़े अन्न के दाने चुग रही थी। उसी समय दूर से ट्रेन आने की आवाज सुनाई दी। वहाँ उपस्थित

अन्य चिड़ियाँ खतरे को समझकर तुरंत उड़ गईं; परंतु एक चिड़िया लोभवश वहीं दाने चुगती रही। चिड़ियाओं ने उसे संकेत करते हुए कहा—"उड़ जाओ, ट्रेन आ रही है।" पर वह चिड़िया बोली—"बस दो दाने और चुग लूँ, फिर उड़ जाऊँगी। लेकिन जब तक वह उड़ने का विचार करती है, तब तक ट्रेन आ पहुँची और वह चिड़िया उसी पटरी पर अपने प्राण गवां बैठी। देखिए, केवल दो दाने के लोभ ने उस चिड़िया का जीवन समाप्त कर दिया।

इसी प्रकार लोभी मनुष्य भी लोभ के कारण अनेक पापों में पड़ जाता है। लोभ चाहे धन का हो, चाहे स्वास्थ्य का हो, चाहे पत्नी-पुत्र-परिवार का हो—लोभ में पड़कर के व्यक्ति झूठ भी बोलता है, चोरी भी करता है, हिंसा भी करता है और अनीति-अत्याचार तथा अन्याय भी करता है।

महानुभाव! एक गोस्वामी नामक निमित्तज्ञानी ज्योतिष राजदरबार में प्रायः आया करता था। उसकी उम्र ज्यादा नहीं थी। उसके पिता की मृत्यु उसकी बाल्यावस्था में ही हो गई थी। इसलिए वह अपने पिता की जगह राजदरबार में आने लगा था।

संयोग की बात है कि एक दिन राज परिवार में बड़ा खुशी का वातावरण था, क्योंकि राजमहल में एक कन्या का जन्म हुआ था। राजा ने उस गोस्वामी से पूछा—"इस कन्या का भविष्य क्या है?" कन्या को देखकर उस गोस्वामी के

मन में एक लोभपूर्ण विचार उत्पन्न हो गया। उसने सोचा– ‘‘यह कन्या अत्यंत सुन्दर है। यह मुझे मिल जाए तो मैं इससे विवाह कर लूँगा। यह बहुत पुण्यात्मा कन्या है, जहाँ भी रहेगी, राज करेगी। यदि यह मुझे मिल जाए तो मैं भी राजा बन जाऊँगा।’’

कन्या को प्राप्त करने के लोभ से प्रेरित होकर उस गोस्वामी ने राजा से कहा–‘‘महाराज! ये कन्या आपके लिए शुभ नहीं है। यह आपके लिए काल स्वरूप है। यदि यह जीवित रही तो आपके पूरे परिवार और राज्य के लिए अनिष्टकारी सिद्ध होगी। इसलिए उचित यह है कि इस कन्या को जितनी जल्दी हो सके किसी नदी में प्रवाहित कर दिया जाए। इससे आपको हत्या का पाप भी नहीं लगेगा, क्योंकि यह अपने भाग्य से जीवित रहेगी या मर जाएगी।

राजा अत्यंत भोला था। इस गोस्वामी के पिता पहले राजदरबार में आते थे और न्यायप्रिय माने जाते थे। इसलिए राजा को क्या पता कि उसका बेटा मन में इतना छल-कपट लेकर बैठा है। राजा ने उसकी बात पर विश्वास कर लिया और प्रातःकाल उस कन्या को संदूक (मंजूषा) में बंद करके बहते हुए जल में प्रवाहित करवा दिया।

गोस्वामी वहाँ से शीघ्रता से चला गया। प्रातःकाल जिस मंजूषा को जल में प्रवाहित किया गया है, वह संध्याकाल तक अमुक तट तक अवश्य पहुँच गई होगी, यह सोचकर वह पहले से ही उस घाट पर पहुँच गया।

उधर क्या हुआ? वह मंजूषा नदी के बहते हुए जल के साथ जंगल के मध्य से बहती चली जा रही थी। उसी समय एक राजकुमार अपने मित्रों के साथ वन विहार के लिए निकला हुआ था। घूमते-घूमते वह रास्ता भटक गया और भटकते-भटकते उसी नदी के किनारे पर आ पहुँचा, जिसमें वह मंजूषा बह रही थी। संयोग की बात है कि राजकुमार का वहाँ पहुँचना और उस संदूक का वहीं आ लगना-दोनों एक साथ हुआ। उस रत्नजड़ित मंजूषा को देखकर राजकुमार के मन में विचार आया कि यह किसी राजा के महल से प्रवाहित हुई है। उसने उस मंजूषा को पकड़ लिया और उसे खोलकर देखा। देखते ही वह आश्चर्यचकित रह गया, क्योंकि उस मंजूषा में एक अत्यंत सुंदर कन्या थी। कन्या को देखकर राजकुमार के साथियों ने कहा-"यदि यह कन्या आपको प्राप्त हुई है तो इस पर आपका ही अधिकार है।" उन साथियों ने मंजूषा में से कन्या को तो निकाल लिया और एक भालू को उसमें बंद करके बहा दिया।

संध्याकाल जब वह गोस्वामी वहाँ पहुँचा और मंजूषा को देखा तो उसकी आँखों में चमक आ गई। वह मन ही मन राजा बनने के कल्पनाजाल में डूब गया। वह तुरंत दौड़कर उस मंजूषा को उठा लाया और किसी की दृष्टि न पड़े इसलिए उसे अपने घर ले गया। घर पहुँचकर उसने बाहर वाला दरवाजा बंद कर लिया, अंदर से कुंडी लगा दी, फिर

अंदर वाले कमरे में गया और दरवाजा बंद करके जैसे ही उसने मंजूषा खोली वैसे ही उसमें बंद भूखा भालू उस पर झपट पड़ा और उस गोस्वामी के प्राण पखेरु क्षण भर में ही उड़ गए।

महानुभाव! लोभ का दुष्परिणाम ऐसा ही होता है। लोभ में पड़कर व्यक्ति झूठ बोलता है, अन्याय और अनीति का सहारा लेता है और अंततः उसकी जीवन लीला समाप्त हो जाती है। किसी कवि ने इस प्रसंग को सुनकर यह दोहा लिखा–

जो जिसको कर्ता बदि, ताहे बदि खा जाए।
कन्या सोवे राज घर, बाबा भालू खाए॥

लोभ में पड़कर व्यक्ति अनेक पाप करता है। शास्त्रों में लोभ से संबंधित हजारों प्रसंग प्राप्त होते हैं। संसार में ऐसा कोई पाप नहीं है, जिसे करने में लोभी व्यक्ति समर्थ न हो। लोभी व्यक्ति के लिए अर्थ (धन) ही सब कुछ बन जाता है। पर वास्तव में वही उसके लिए अनर्थ का कारण बनता है।

आचार्यों ने लिखा है **''दुह संगहकरा लोह बुद्धी''** लोभ युक्त बुद्धि सदा दुःख का ही संग्रह करने वाली है। वास्तव में दुःख और कुछ नहीं, केवल पाप का ही फल है और वह दुःख लोभ के कारण ही प्राप्त होता है। आचार्य भगवन् श्री अमितगति स्वामीजी ने मरणकण्डिका ग्रंथ में बहुत सुंदर बात कही–

सुखं त्रैलोक्यालाभेऽपि नासंतुष्टस्य जायते।
संतुष्टो लभते सौख्यं, दरिद्रोऽपि निरंतरम्॥

–(मरणकंडिका, 7–1465)

असंतुष्ट पुरुष को तीनों लोकों का लाभ हो जाने पर भी सुख प्राप्त नहीं होता, और संतुष्ट पुरुष दरिद्र होने पर भी निरन्तर सुख का अनुभव करता है। इसलिए आचार्य महोदय कह रहे हैं–''हे भव्य! इस लोभ का त्याग करो। यह लोभ पुण्य की जलराशि को सुखाने के लिए ज्येष्ठ मास की तीव्र धूप के समान है और संतोष सम्पूर्ण पापों की आग को बुझाने के लिए मेघवर्षा के समान है। इसलिए पाप के मूल कारण लोभ का परित्याग करो।''

आगे कहा गया है–''**रसमूलानि व्याधयः**''। रसों में आसक्ति ही व्याधियों का मूल कारण है। यदि व्याधियों का मूल खोजा जाए तो वह जिह्वा के स्वाद में आसक्ति ही है। व्यक्ति जिह्वा के स्वाद में आकर स्वयं को संयमित नहीं रख पाता। वह बाजार के तरह–तरह के पदार्थ–fast food, packed food आदि का सेवन करता रहता है। जमीकंद, अचार आदि गंदे अभक्ष्य पदार्थ का भक्षण करना रसासक्ति ही प्रकट करता है। लाख मना करने पर भी वह उन्हें छोड़ नहीं पाता। इस प्रकार जिह्वा–लोलुपी व्यक्ति अनेक व्याधियों का शिकार बन जाता है।

''**देहं व्याधि–मंदिरं**'' यह शरीर व्याधियों का मंदिर है। यदि जिह्वा पर नियंत्रण न रखा जाए तो व्यक्ति या तो रोगों

का शिकार बन जाता है या स्वयं अपने शरीर को कष्टों से भर लेता है। जो व्यक्ति रोगों से बचना चाहते हैं, उन्हें जिह्वा के लोभ से बचना चाहिए। कम से कम जिह्वा पर संयम अवश्य रखना चाहिए और आवश्यकता से अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। इसी संदर्भ में एक प्रसंग याद आ गया–

एक पण्डितजी कहीं भोजन करने पहुँचे, वहाँ उन्होंने पेट भरकर भोजन किया। तभी लोगों ने उनसे निवेदन किया– ''पण्डितजी! यदि आप चार रसगुल्ले और खा लें तो हम आपको दक्षिणा में 100 रुपये और देंगे। पंडितजी ने लोभवश चार रसगुल्ले और खा लिए, तभी सेठानी जी वहाँ आईं और बोली–''यजमान महोदय! यदि आप दो रसगुल्ले और खा लें तो मैं आपको 500 रुपये दूँगी।''

पेट में जगह तो बिल्कुल नहीं थी, पर मन में लोभ का गहरा गड्ढा खुदा पड़ा था। बड़ी मुश्किल से पण्डित जी ने दो रसगुल्ले और खा लिए। कुछ देर बाद सेठानी की बेटी आई और बोली–''पण्डितजी! यदि आप एक रसगुल्ला और खा लें तो मैं आपको 1000 रुपये दूँगी। लोभ में आकर पण्डितजी ने वह रसगुल्ला भी खाने का प्रयास किया, पर उनका पेट पहले से ही पूरी तरह भरा हुआ था। आधा रसगुल्ला ही खा पाए थे कि अचानक चक्कर खाकर गिर पड़े। लोग घबरा गए–''अरे! यह क्या हुआ? पण्डितजी गिर कैसे गए?'' वैद्य और डॉक्टरों को बुलाया गया। डॉक्टर ने उनकी नाड़ी देखी और कहा–''घबराने की

कोई बात नहीं है। सब ठीक है। अधिक खाने के कारण अपच हो गई है। इन्हें हाजमोला की एक गोली दे देता हूँ, अभी ठीक हो जाएँगे।'' डॉक्टर ने पण्डित जी से कहा– ''पण्डितजी आप यह हाजमोला की गोली ले लीजिए, तुरंत आराम मिल जाएगा।'' पण्डितजी बोले–''डॉक्टर साहब! यदि मेरे पेट में हाजमोला की गोली खाने की जगह होती, तो मैं रसगुल्ला क्यों छोड़ता।''

महानुभाव! कहने का आशय है कि जो व्यक्ति भोजन के स्वाद में आसक्त हो जाता है, वह अंततः लोभ का शिकार बन जाता है।

जिसने सर्वभक्षण करने वाली जिह्वा रूपी राक्षसी को जीत लिया, समझो उसे अब शेष इंद्रियों को जीतने में ज्यादा समय नहीं लगेगा। जिह्वा पर संयम रखने वाले, निर्दोष आहार ग्रहण करने वालों के संयम, तप, व्रत आदि सफल माने जाते हैं। वे पुण्यरूप फल देने में समर्थ होते हैं। क्योंकि जो जिह्वा के वश में हो जाता है, वह कामादि दुर्जेय शत्रुओं को कैसे जीत सकता है? इसलिए इस रसना इंद्रिय पर संयम रखना अत्यंत आवश्यक है। शरीर की स्वस्थता व चेतना की स्वस्थता रखने में भी यह बहुत बड़ा साथ निभाती है। आचार्यों ने लिखा है–''**रसना वि विणासस्स विगासस्स य कारणं**'' रसना भी विनाश और विकास–दोनों का कारण बनती है। भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार किए बिना, अविवेक पूर्वक अपने उदर को मुंसीपाल्टी के डिब्बे की तरह भरना

अपने स्वास्थ्य का विनाश करना है। इसके विपरीत शुद्ध, सात्विक, हेय-उपादेय का ध्यान रखते हुए, मर्यादापूर्वक संयम के पालन हेतु, वैय्यावृत्ति आदि अंतरंग तप करने हेतु जो विधेय आहार ग्रहण किया जाता है, वह पुण्य के विकास का कारण होता है। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि रसना इंद्रिय पर संयम रखना चाहिए। किसी अन्य इंद्रिय को रोको या मत रोको, परंतु रसना इंद्रिय पर अवश्य लगाम लगाओ, क्योंकि यही इन्द्रिय मनुष्य को बहुत दुःख देती है।

अगली बात कही-**'स्नेह-मूलानि बंधानि'** कर्मों का बंध राग और द्वेष से होता है। जहाँ राग है, वहाँ द्वेष भी अवश्य होता है। स्नेह-राग के बंधन में बंधकर चाहे नेमिनाथ और राजुल का प्रसंग नौ भव तक चला हो, चाहे रामचंद्रजी और सीताजी की सोलह भव तक प्रीति चली, चाहे रामदत्ता और सिंहसेन की कथा रही हो—राग का बंधन जीव को बार-बार संसार में बाँधे रखता है।

यह जीव राग के कारण कर्मबंध करता है। जैसे दीवाल पर चिकनाई हो तो धूल चिपक जाती है, उसी प्रकार आत्मा के प्रदेशों में राग-द्वेष की प्रकृति नहीं है, किन्तु राग ने आत्मा के प्रदेशों को अशुद्ध कर दिया है। इसलिए कार्माण वर्गणाएँ चिपक जाती हैं। द्वेष ने आत्मा को रुक्ष कर दिया है, इसलिए स्निग्ध वर्गणाएँ आकर चिपक जाती हैं। राग से रंजित चित्त सदैव दुःखी होता है। सभी जीव रागवश ही संसार में प्रवर्तन करते हैं।

सुभाषित रत्नावली ग्रंथ में आचार्य भगवन् ने लिखा है–

बन्धनानि किल सन्ति बहूनि स्नेहरज्जुकृतबन्धन-मुक्तम्।
दारूभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिः, निष्क्रियो भवति पङ्कजमध्ये॥77॥

बन्धन तो बहुत प्रकार के हैं, परंतु स्नेहपाश से किया गया बन्धन सबसे प्रबल माना गया है। जैसे भ्रमर लकड़ी को भेदने में निपुण होता है, परंतु कमल की कोमल पंखुड़ियों के बीच जाकर निष्क्रिय और पौरुषहीन हो जाता है। केवल उस कमल की सुगंध के प्रति राग होने के कारण, सूर्यास्त हो जाने पर भी वह बाहर नहीं आता और कमल के भीतर ही बंद होकर अपने प्राण विसर्जित कर देता है। यह राग बंध का कारण है।

महानुभाव! इसलिए यहाँ आचार्य महाराज समझाते हैं–यदि लोभ को छोड़ देंगे तो पापों से बच जाएँगे, जिह्वालोलुपता का त्याग कर देंगे तो व्याधियों से बच जाएँगे, और यदि स्नेह-राग को छोड़कर वैराग्य को अपनाएँगे तो संसार से बच जाएँगे, कर्मबंध से बच जाएँगे। यही सुखी होने का उपाय है।

श्री शांतिनाथ भगवान की जय!

किसका भाग्य सहायक

महानुभाव! जैन दर्शन में किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए दो मुख्य घटक आगम में वर्णित हैं। कभी किसी एक घटक की मुख्यता होती है, तो कभी दूसरे की। वास्तव में कोई भी कार्य कभी एक ही घटक से सिद्ध नहीं होता। वे दोनों सुप्रसिद्ध घटक वा तत्त्व भाग्य और पुरुषार्थ के नाम से जाने जाते हैं।

पुरुषार्थ तो संसार में प्रायः सभी लोग करते हैं, किन्तु किसी का पुरुषार्थ सम्यक् होता है किसी का मिथ्या। सम्यक् पुरुषार्थ होने पर भी सबको एक जैसा फल प्राप्त नहीं होता। किसी को यथेच्छ फल की प्राप्ति होती है किसी को अल्प और किसी को मध्यम।

अन्तर इतना क्यों आ जाता है? कभी ऐसा होता है कि एक व्यक्ति अल्प पुरुषार्थ करके भी अधिक फल प्राप्त कर लेता है। दूसरा व्यक्ति अल्प पुरुषार्थ करके अल्प फल प्राप्त करता है। तीसरा व्यक्ति अल्प पुरुषार्थ करके मध्यम फल प्राप्त करता है। चतुर्थ व्यक्ति अत्यधिक पुरुषार्थ करने पर भी अल्प फल प्राप्त करता है। पाँचवाँ व्यक्ति श्रेष्ठ पुरुषार्थ करके मध्यम फल प्राप्त करता है और कोई व्यक्ति उत्कृष्ट पुरुषार्थ से उत्कृष्ट फल प्राप्त करता है।

इससे स्पष्ट होता है कि पुरुषार्थ और फल की प्राप्ति का नियामक संबंध तत्काल में नही होता। पुरुषार्थ का फल

अवश्य प्राप्त होता है—यह नियम है; किन्तु कुछ पुरुषार्थ ऐसे होते हैं जिनका फल तत्काल में मिल जाता है और कुछ पुरुषार्थ ऐसे होते हैं जिनका फल कालान्तर में प्राप्त होता है। कालान्तर में प्राप्त हुए पुरुषार्थ के फल को ही भाग्य कहते हैं और तत्काल प्राप्त होने वाले पुरुषार्थ के फल को पुरुषार्थ कहते हैं।

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
उद्यमात्कृमिकीटोऽपि, भिनत्ति महतो द्रुमान्।

उद्यम से ही कार्य सिद्ध होते हैं, इच्छामात्र से नहीं। उद्यम करने पर छोटे कीड़े-मकोड़े भी बड़े-बड़े वृक्षों को गिरा देते हैं।

महानुभाव! कई बार लोग कहते हैं—''हमारा भाग्य अच्छा था, इसलिए हमें यह फल प्राप्त हो गया।'' दूसरा व्यक्ति कहता है—''हमारा भाग्य खराब था, इसलिए हमें फल की प्राप्ति नहीं हुई।'' यह व्यवहार वर्तमानकाल में भी देखा जाता है, भूतकाल में भी देखा गया था और भविष्य में भी चलता रहेगा।

आचार्य महोदय ने भाग्य की विशेषता के लिए पुरुषार्थ पर जोर दिया है। आप पुरुषार्थी बनेंगे तो भाग्य स्वयं आपके पीछे-पीछे परछाई बनकर आ जाएगा। यदि पुरुषार्थ को छोड़ देंगे तो आपको कभी भाग्य प्राप्त नहीं होगा। पुरुषार्थ भाग्य का पिता है, और कभी-कभी भाग्य भी पुरुषार्थ का

सहायक या सहोदर बन जाता है। आप कहेंगे–यह कैसे संभव है? जब दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, तब ऐसा कहा जा सकता है। सामान्यतः समझ में यही आता है कि पुरुषार्थ करने से भाग्य का निर्माण होता है। पुरुषार्थ पिता है और भाग्य पुत्र के समान है। किन्तु कई बार ऐसा भी होता है कि भाग्य अनुकूल हो तो पुरुषार्थ करना सरल हो जाता है; और जब भाग्य प्रतिकूल होता है तो पुरुषार्थ हो ही नहीं पाता। इतनी प्रतिकूलताएँ सामने आती हैं कि व्यक्ति पुरुषार्थ करना भी चाहे, अनेक बार विचार कर ले, तब भी पुरुषार्थ कर ही नहीं पाता। तब वह कहता है–''मैं यह कार्य कर ही नहीं पाया, कार्य करने की मेरी अनुकूलता ही नहीं बन पाई।'' इसका फल यह होता है कि भाग्य की प्रतिकूलता के कारण पुरुषार्थ विहीन होने से वह किसी प्रकार के फल को प्राप्त नहीं कर पाता।

नीतिकारों ने स्पष्ट लिखा है कि दैव या भाग्य उसी की सहायता करता है जिसमें कुछ विशेष गुण होते हैं। चाहे वे देवगति के देव हों, चाहे मनुष्य हों, चाहे श्रेष्ठ राजा हो, चाहे प्रकृति के अन्य तत्त्व हों और चाहे स्वयं का भाग्य हो–सब उसी की सहायता करते हैं, जिसके भीतर ये छह विशेषताएँ होती हैं–

उत्साह पौरुषं धैर्यं, बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः।
षडेते यत्र वर्तन्ते, तत्र देवः सहायकृत्॥

भाग्य वहीं सहायक होता है, जहाँ पर उत्साह है। अर्थात जिस व्यक्ति में कार्य करने का उत्साह है, उसी की सहायता दैव (भाग्य) भी करता है।

जिस प्रकार नेत्र युक्त व्यक्ति के लिए दीपक सहायक होता है किंतु नेत्रविहीन व्यक्ति के लिए न दीपक का प्रकाश उपयोगी है, न सूर्य-चंद्र का प्रकाश और न ही कोई कृत्रिम प्रकाश। यदि नेत्रों में ज्योति है तो सघन मेघों के मध्य में कड़कती बिजली की क्षणिक चमक में भी वह अपना मार्ग देख सकता है। परंतु यदि नेत्रों में ज्योति ही नहीं है, तो हाथ में दीपक या टॉर्च देने पर भी व्यक्ति अपना मार्ग नहीं देख सकता। इसी प्रकार जो व्यक्ति उत्साहपूर्वक कार्य करता है, उसकी सहायता भाग्य भी करता है और दैव भी उसका सहायक बन जाता है।

अब प्रश्न उठता है–उत्साह क्या है? इस विषय में आचार्यों ने परिभाषा दी–**''पसण्णचित्त-जुत्ता कज्जस्स तत्परो विट्ठि-उच्छाहो''** प्रसन्नचित्त होकर के कार्य करने की तत्परता को उत्साह कहते हैं। जिसके चित्त में प्रसन्नता हो, आनंद की हिलोर आ रही हों और जो काम करने के लिए आतुर हो–समझना चाहिए कि उसका उत्साह बढ़ रहा है। इसके विपरीत एक व्यक्ति ऐसा भी होता है जो काम करने के लिए उदासीन बैठा रहता है–चलो देख लेंगे, कर लेंगे, बाद में कर लेंगे''–ऐसा सोचता रहता है। इसका आशय है कि वह उत्साहहीन है। जिस व्यक्ति में कार्य को शीघ्र करने की भावना होती है, वही वास्तव में उत्साही

कहलाता है। उदाहरण के रूप में जो विद्यार्थी पढ़ाई करते हैं—वे परीक्षा देने की इंतजारी करते रहते हैं और परीक्षा हो जाए तो परीक्षा परिणाम प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहते हैं। दूसरी ओर जो मंदबुद्धि अथवा आलस्य से ग्रस्त विद्यार्थी होते हैं, जिन्होंने समीचीन रूप से अध्ययन नहीं किया होता, वे सोचते हैं—''परीक्षा परिणाम आज आए या कल आए, क्या फर्क पड़ता है।''

आचार्य महोदय ने उत्साह को परिभाषित करते हुए कहा है—**''सरिदाए उच्छलिद-जलवेगोव्व चित्तम्मि उदीयमाणो सुहभावो उच्छाहो**'' जैसे नदी में उमड़ते हुए जल का वेग होता है, उसी प्रकार चित्त में उठने वाले शुभ भाव का नाम उत्साह है। उत्साह, स्वपर के विकास में कारण होता है। वह उत्साह मित्र की तरह सहायक होता है। यदि यह कहा जाए कि उत्साह के बिना पुरुषार्थ पंगु की तरह है, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है, क्योंकि पुरुषार्थी व्यक्ति उत्साही होता है। उत्साह से ही शक्ति का विकास होता है।

प्रथमानुयोग में एक नाम आता है—अंतिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी का। एक बार राजा श्रेणिक अपने सिंहासन पर बैठे राज्य कार्य में संलग्न थे। तभी अचानक एक विद्याधर सभा में आया। उसने राजा श्रेणिक को नमस्कार किया और कहने लगा—''हे राजन! इसी जम्बूद्वीप की दक्षिण दिशा में केरला नाम की एक नगरी है। वहाँ के राजा मृगांक और रानी मालती हैं। उन दोनों की अनेक शुभ लक्षणों से युक्त

विलासवती नाम की एक पुत्री है। पुत्री के विवाह योग्य होने पर राजा और रानी को उसके लिए योग्य वर की चिन्ता होने लगी। इसीलिए वे शीघ्र ही किसी दिगम्बर मुनि के पास गए और अपनी चिन्ता का समाधान उनसे पूछा।

तब उन मुनिराज ने उन्हें बताया कि राजगृही नगरी के स्वामी आपके साथ उनकी पुत्री का विवाह होगा। महाराज! मुनिराज के वचन सुनकर उसी समय राजा और रानी ने अपनी पुत्री को आपको देने का दृढ़ संकल्प लिया। किन्तु महाराज! एक समस्या उनके सामने बार-बार आ रही है। वह यह कि हंसद्वीप का स्वामी राजा रत्नचूल उस पुत्री से जबरन विवाह करना चाहता है। राजा मृंगाक से जबरन विलासवती को छीन लेने के लिए रत्नचूल ने अपनी सेना द्वारा चारों ओर से नगरी को घेर लिया है। यद्यपि राजा अपनी पुत्री उसे देना नहीं चाहते। मैंने यह बात प्रत्यक्ष देखी है, इसलिए मैं आपको यह समाचार सुनाने आया हूँ।''

यह सुनकर महाराज श्रेणिक ने जम्बूकुमार को संकेत किया। जम्बूकुमार अकेले ही केरला गए और वहाँ पहुँचकर रत्नचूल की सेना से युद्ध किया। उन्होंने आठ हजार सैनिकों की सेना को परास्त कर नष्ट कर दिया। जब उत्साह होता है, तब व्यक्ति में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि एक अकेला व्यक्ति भी हजारों पर भारी पड़ जाता है। आपने इतिहास में पढ़ा होगा कि भारत में ऐसे अनेक वीर योद्धा हुए जिनके शरीर पर अस्सी-अस्सी घाव लगे होने पर भी

वे युद्ध भूमि में डटे रहे। उन्होंने उत्साहपूर्वक छोटी सी सेना लेकर बड़ी सेना को भी पराजित कर दिया।

एक सत्य घटना है कि एक उत्साही व्यक्ति ने अपने ग्रामवासियों की चोर लुटेरों से रक्षा करने के लिए उन डाकुओं से मुकाबला किया। कहा जाता है कि उस व्यक्ति का सिर धड़ से अलग हो गया, किन्तु वह तब भी दोनों हाथों से तलवार चलाता रहा।

महानुभाव! जिस व्यक्ति में उत्साह होता है, वह बड़े से बड़े कार्य को करने में दिन-रात का भेद नहीं करता, किंतु जिसमें किसी कार्य को करने का उत्साह नहीं होता, वह व्यक्ति छोटे से छोटे कार्य को करते-करते भी थक जाता है और करते हुए भी सोचता रहता है-''ये काम कैसे होगा?'' यहाँ बताया गया है कि उत्साह भाग्य को अनुकूल बनाने का प्रथम कारण है।

दूसरा कारण बताया **'पौरुष'**-अर्थात पुरुषार्थ। **''सम्मग उज्जमो पौरुसं''** समीचीन उद्यम का नाम ही पौरुष है। पुरुष को पुरुषार्थ करना चाहिए। पुरुष वह है जो श्रेष्ठ गुणों को भोगने का अधिकारी है, पुरुष वह है जो उद्यमशील है, पुरुष वह है जो किसी भी परिस्थिति का सामना करने के लिए तैयार रहता हो। ऐसा पुरुषार्थी पुरुष जब अपने पौरुष के बल से आगे बढ़ता है, तब निःसंदेह दैव भी उसका साथ देता है।

पौरुष का श्रेष्ठ उदाहरण **भगवान पार्श्वनाथ स्वामी** हैं। जिन पर उपसर्ग आया, फिर भी उन्होंने उसे समतापूर्वक सहन किया। उन्होंने उसका प्रतिकार नहीं किया, अपितु अपनी शक्ति को कर्मक्षय में लगाया। यदि वे चाहते तो उपसर्ग करने वाले का प्रतिघात कर सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया।

इसी प्रकार **गुरुदत्त मुनिराज** पूर्व भव के बैरी ने उन्हें रुई से लपेटकर अग्नि में जला दिया, किन्तु वे अपनी साधना से डिगे नहीं। इसी प्रकार **गजकुमार मुनि** के सिर पर जलती हुई सिगड़ी रख दी गई, किन्तु फिर भी वे विचलित नहीं हुए।

अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों पर जब हस्तिनापुर में बलि द्वारा उपसर्ग किया गया तब भी वे मुनिराज समताभाव में लीन रहे। **दण्डक राजा** ने पाँच सौ मुनियों को घानी में पिलवा दिया, किन्तु उन्होंने अपनी शक्ति का उपयोग बाह्य शत्रुओं को मारने के लिए नहीं किया; बल्कि अपनी आत्मा में विद्यमान कर्म शत्रुओं को नष्ट करने में किया।

आपने नाम सुना होगा **राजा पद्मरथ** का। वह राजा सप्त व्यसनों में लिप्त था। रानी के लाख समझाने पर भी वह अपने व्यसनों से मुक्त नहीं होना चाहता था। एक बार वह राजा अकेले ही, अंगरक्षकों के बिना, शिकार खेलने के लिए जंगल में चला गया। उस दिन संयोग से सुबह से

दोपहर हो गई, किन्तु उसे कोई शिकार नहीं मिला। तब राजा पद्मरथ के मन में विचार आया–''यदि मैं बिना शिकार लिए खाली हाथ महल लौट गया तो लोग क्या कहेंगे? मैं तो एक छोटा-सा शिकार भी नहीं कर पाया।'' इस प्रकार मान-भाव में डूबा हुआ राजा पद्मरथ शिकार की खोज में उस जंगल में और आगे बढ गया और कुछ ही दूरी पर उसे एक छोटा-सा खरगोश नजर आया। उसने सोचा–''चलो, छोटा ही सही, पर कोई शिकार तो मिला।'' यह सोचकर उसने अपना घोड़ा उस खरगोश के पीछे दौड़ा दिया।

किन्तु यह क्या! पता नहीं कोई देवमाया थी या कुछ और–राजा पद्मरथ ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते त्यों-त्यों वह खरगोश उनकी चाल से भी अधिक तेजी से आगे बढ़ जाता। कभी झाड़ियों के पीछे छिप जाता, तो कभी एक पल में पहाड़ी के ऊपर नजर आता। किन्तु राजा पद्मरथ ने भी मानो यह संकल्प कर लिया था कि आज एक शिकार तो लेकर ही लौटेंगे।

राजा पद्मरथ को खरगोश का पीछा करते-करते शाम हो गई, पर वह उनके हाथ नहीं आया। अंततः वह खरगोश एक गुफा में घुस गया। राजा ने उसे देखा और वे भी उसी गुफा में प्रवेश कर गए। गुफा में प्रवेश करते ही चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देने लगा। राजा सोचने लगा–''लगता है इस गुफा मे आने का मार्ग तो है, किन्तु बाहर जाने का नहीं। यह खरगोश आखिर बचकर जाएगा

कहाँ?'' किन्तु जैसे-जैसे राजा आगे बढ़ते गए कुछ-कुछ प्रकाश दिखाई देने लगा। और ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ते गए, त्यों-त्यों वह प्रकाश पुंज बढ़ता गया।

तभी उन्होंने देखा कि यह प्रकाश बाहर से नहीं आ रहा है। वहाँ पद्मासन मुद्रा में विराजित एक दिगम्बर प्रतिमा थी, जिसमें से यह अप्रतिम प्रकाश निकल रहा था। उस दिव्य प्रतिमा को देखकर राजा आश्चर्यचकित रह गए। वे सोचने लगे-''यह कोई मूर्ति है या इस जंगल के देवता? इतना मनोहर रूप तो मैंने आज से पहले कभी नहीं देखा।'' वे धीरे-धीरे उसके निकट गए। जैसे ही वे पास पहुँचे, उनके आश्चर्य का ठिकाना ही नहीं रहा। अरे! यह तो कोई प्रतिमा नहीं थीं, अपितु साक्षात् एक योगीराज थे। राजा पद्मरथ सोचने लगे-क्या ऐसी दिव्य आभा किसी साधारण मनुष्य में हो सकती है? इतनी शांति, इतनी कांति, इतनी सौम्यता और भद्रता उन्होंने आज तक कभी नहीं देखी थी।

राजा पद्मरथ उन मुनिराज को अपलक निहारने लगे। देखते ही देखते उनकी आँखों से आँसू बहने लगे, मानो आज उनके अंतरंग का मिथ्यात्व रूपी मल आँसुओं के साथ बह गया हो। तभी उन्हें एक आवाज आयी-''राजा पद्मरथ!'' वे पुनः आश्चर्यचकित हो गए। उन्होंने विनम्रतापूर्वक कहा-''महाराज! आप हमें जानते हैं? मैंने तो आज से पहले इस रूप के दर्शन नहीं किए। फिर आप मुझे कैसे जानते हैं? मुनिराज अवधिज्ञान के धारी थे। उन्होंने राजा

पद्मरथ को निकटभव्य जानकर धर्मोपदेश दिया। राजा ने हाथ जोड़कर अत्यंत विनयपूर्वक धर्म का उपदेश सुना और फिर निवेदन किया–''हे धरती के देव! हे मुनिवर! क्या इस पृथ्वी पर आप ही सबसे बड़े हैं?'' मुनिराज ने उत्तर दिया–''नहीं राजन्! इस समय चम्पापुर नगरी में बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य भगवान का समवसरण लगा हुआ है। वे ही सबसे बड़े हैं। राजा पद्मरथ ने कहा–''मुनिवर! मैं कल प्रातः सर्वप्रथम चम्पापुर नगरी जाऊँगा और तीर्थंकर भगवान के साक्षात् दर्शन करूँगा।'' यह कहकर राजा बार–बार मुनिराज को नमस्कार करते हुए महल की ओर लौटने लगे।

आज राजा पद्मरथ पहले जैसे नहीं रहे थे। उनके भाव, उनका मन, उनकी चेतना मानो सम्यक्त्व की ज्योति से जगमगा उठी थी। वह महल की ओर जाते हुए यही विचार करते रहे–''चाहे कुछ भी हो, मैं कल चम्पापुर अवश्य जाऊँगा।'' उधर सौधर्म सभा में चर्चा चल रही थी। देव कह रहे थे कि ''इन्द्रराज! लगता है तीनों लोकों में इस समय आपकी भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है, आपके समान दूसरा कोई नहीं है। तभी सौधर्म इन्द्र ने कहा–''नहीं देव! इस समय यदि किसी के चित्त में सर्वोत्कृष्ट जिनभक्ति की तरंगें उठ रही हैं, तो वे हैं राजा पद्मरथ। उनकी भक्ति इस समय परम और चरम सीमा पर है।'' तभी वहाँ उपस्थित दो देवों के मन में कौतूहल उत्पन्न हुआ। उन्होंने निश्चय किया कि

राजा पद्मरथ की भक्ति की परीक्षा लेनी चाहिए। इस उद्देश्य से वे दोनों देव पृथ्वी पर आ गए।

प्रातःकाल हुआ। राजा पद्मरथ चम्पापुर नगरी जाने के लिए उद्यत हुए। मंत्रियों ने देखा कि राजा अपने रथ पर चढ़कर कहीं जाने को उद्यत हैं। उन्होंने पूछा–''महाराज! आप कहाँ जा रहे हैं? राजा ने उत्तर दिया–''मैं बारहवें तीर्थंकर भगवान वासुपूज्य स्वामी के दर्शन हेतु समवसरण में जा रहा हूँ।'' जैसे ही मंत्रियों ने यह सुना कि राजा समवसरण में जा रहे हैं, वे सभी घबरा गए, क्योंकि पूरा मंत्रिमण्डल मिथ्यात्व का पोषक था। वे सोचने लगे–यदि राजा जैन हो गया तो हमारी एक नहीं चलेगी। इसलिए उन्होंने राजा को रोकने का भरसक प्रयास किया, किन्तु राजा ने उनकी एक न सुनी।

उधर दोनों देव भी परीक्षा की दृष्टि से यह सब देख रहे थे। जैसे ही राजा महल से बाहर निकले, एक बिल्ली ने उनका रास्ता काट दिया और डाल पर बैठा एक कौवा काँव-काँव करने लगा। मंत्रियों ने कहा–''महाराज! यह बहुत बड़ा अपशकुन हो गया है। अब आपका जाना उचित नहीं है।'' राजा ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया। जैसे ही राजा रथ पर चढ़े, रथ के पहिए टूट गए। मंत्रियों ने पुनः कहा–''राजन्! यह सब शुभ नहीं हो रहा।'' तब राजा ने आदेश देकर दूसरा रथ मँगवाया। किंतु कुछ ही दूर चलने पर उस रथ का पहिया भी निकल गया और राजा का छत्र भी टूट गया। मंत्रिगण फिर बोले-''इन अपशकुनों को

समझिए, ये संकेत दे रहे हैं कि आपका जाना उचित नहीं है।'' किन्तु राजा के अंतःकरण में जिनभक्ति का रंग ऐसा चढ़ चुका था कि उस पर किसी भी बाह्य दुरंगों का कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा था।

देवों ने देखा कि यह तो अभी भी दृढ़ है। तब उन्होंने अपनी माया से बड़ी भारी वर्षा कर दी, जिससे न रथ चल सके और न ही अन्य साधन। आकाश में बिजली कड़कने लगी। किंतु राजा पद्मरथ ने कहा–''हे भगवन्! चाहे कुछ भी हो जाए, आज मुझे आपके दर्शन से कोई नहीं रोक सकता।'' यह कहकर राजा पद्मरथ पैदल ही चलने लगे। वे तूफानों के बीच भी आगे बढ़ते चले गए। उनके मुख से निरंतर एक ही वाक्य निकल रहा था–''**श्री वासुपूज्य भगवान की जय! श्री वासुपूज्य जिनेन्द्राय नमः!**'' पूरे रास्ते यही बोलते हुए आगे बढ़ते गए और समस्त बाधाओं को पार करते हुए अंततः चम्पापुर नगरी श्री वासुपूज्य स्वामी के समवसरण में पहुँच गए। अन्तर्मुहूर्त में बीस हजार सीढ़ियाँ चढ़कर अष्टम भूमि तक पहुँचकर भगवान के दर्शन किए, जहाँ भगवान अष्टप्रातिहार्य युक्त सिंहासन से चतुरंगुल ऊपर विराजमान थे।

भगवान के साक्षात् दर्शन करते ही राजा पद्मरथ का मन जिनभक्ति में पूर्णतः डूब गया। उन्होंने भगवान के चरणों में साष्टांग नमस्कार किया और निवेदन किया–''हे भगवन्! मुझे भी दैगम्बरी दीक्षा देकर मेरे कल्याण का मार्ग प्रशस्त कीजिए। तत्काल उन्होंने सभी वस्त्राभूषणों का त्याग किया,

केशलोंच किया और दिगम्बर मुनि बन गए। आगे चलकर यही राजा पद्मरथ भगवान वासुपूज्य स्वामी के गणधर बने।

महानुभाव! यह पौरुष भी हमारे दैव (भाग्य) को बनाने में प्रधान कारण है। राजा के मन में भगवान के दर्शन का जो उत्साह उत्पन्न हुआ, वही उसका था। उसी पौरुष ने सभी बड़े से बड़े विघ्नों को दूर कर उन्हें उनकी मंजिल तक पहुँचा दिया। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि–सम्यक् पुरुषार्थ के बिना संसार–सागर को पार करने में कोई समर्थ नहीं है। पुरुषार्थी ही सदा धर्म के फलस्वरूप अनंत सुख को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है।

महानुभाव! तीसरी बात कही गई है–**''धैर्य''।**

''विसमयाले वि णिराऊल-चित्तजुद सम्मपवट्टी धीरं''

विपत्तियों और विषम परिस्थितियों में भी जिसका चित्त विचलित नहीं होता, वही वास्तव में धैर्यवान कहलाता है। क्योंकि धैर्य की परीक्षा अनुकूल परिस्थितियों में नहीं, बल्कि विपरीत परिस्थितियों में होती है। अनुकूलता में तो सब कुछ सहज ही मिल जाता है, वहाँ धैर्य की कोई विशेष परीक्षा नहीं होती।

विषमकाल का अर्थ है–'कठिन परिस्थितियाँ' उन विषम परिस्थितियों में भी जो अपना साहस नहीं खोता, अपने मनोबल को कमजोर नहीं होने देता, और आगे बढ़ने की उत्साह शक्ति को कम नहीं होने देता, वही सच्चा धैर्यवान

होता है। धैर्य की परीक्षा तब होती है जब जंग अपनों से हो। वीरता की परीक्षा वहाँ होती है जहाँ जंग परायों से हो। **'परायों को जीतने के लिए वीरता चाहिए और अपनों को जीतने के लिए धीरता चाहिए।'** अतः धैर्य धारण करो। यदि कभी अपने ही लोग आपके प्रतिकूल हो जाएँ, तब भी आप प्रतिकूल न बनो। कहा गया है–

'उकताये काम नशाये, धीरज काम बनाये'

जल्दीबाजी में, अधीर होकर जो निर्णय लिए जाते हैं और हड़बडी में जो कार्य किए जाते हैं, वे प्रायः विफल हो जाते हैं। किंतु जो कार्य धैर्य और संयम के साथ सम्पन्न किए जाते हैं, वे कार्य निःसंदेह सफलता देने वाले होते हैं। इसीलिए धैर्य का होना अत्यंत आवश्यक है।

श्रीपाल को जब धवल सेठ ने धोखे से समुद्र में गिरा दिया, तब वे तैरते-तैरते जब दूसरी नगरी पहुँचे, वहाँ के राजा ने अपनी कन्या का विवाह उनके साथ कर दिया। जब धवल सेठ को यह समाचार मिला कि श्रीपाल उस राज्य में प्रतिष्ठित होकर बैठ गए हैं, तब उसे चिंता हुई– कहीं मेरा भेद खुल गया तो वह मुझे जीवित नहीं छोड़ेगा। यहाँ का राजा इसका श्वसुर बन गया है, वह निःसंदेह मेरी दुर्गति कर देगा। उस धवल सेठ ने षड्यंत्र रचा। उसने भांडों को बुलाकर कहलवाना आरंभ किया–"यह श्रीपाल हमारा बेटा है, जो समुद्र में गिर गया था।"

ऐसा आक्षेप सुनकर भी श्रीपाल ने अपना धैर्य नहीं खोया। वे चाहते तो अपना पराक्रम दिखाकर उन भांड़ों को

और उस धवलसेठ को दंडित कर सकते थे, यहाँ तक कि उन्हें मृत्यु के घाट भी उतार सकते थे। किन्तु उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं किया। यहाँ तक कि पूछे जाने पर भी वे शांत रहे, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि सत्य ज्यादा समय तक छिपा नहीं रहता, वह एकदिन अवश्य प्रकट हो जाता है।

महानुभाव! उस विषम परिस्थिति में भी मौन रहना और प्रतिकूल वातावरण को सहन करना सामान्य पुरुष के वश की बात नहीं है। प्रतिकूलता में जो धैर्य धारण कर ले, वही निःसंदेह धीर पुरुष और महापुरुष बन सकता है। जो व्यक्ति अधीर नहीं होता और सम्यक् पुरुषार्थ करता है, उसे सफलता अवश्य प्राप्त होती है।

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होए।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आए फल होए।।

ऋतु आने पर ही वृक्षों पर फल लगते हैं। जल्दीबाज़ी करने से फल शीघ्र नहीं लगते। जो फसल जितने माह अथवा वर्ष में तैयार होती है, वह उतने ही समय में तैयार होगी जल्दीबाजी करने से आज का बोया हुआ बीज आज ही फल दे दे—ऐसा नहीं होता।

इसी प्रकार यदि कोई श्रावक या श्रमण आज कोई पुण्य का कार्य कर रहा है और यह सोचता है कि उसे उस पुण्य कार्य का फल उसी दिन या शाम तक मिल जाए, तो यह आकुलता उचित नहीं है। आकुल होकर कार्य करने पर विशुद्धि नहीं बनती और न ही उसका फल

शीघ्र प्राप्त होता है। जो व्यक्ति निःकांक्ष भाव से सम्यक् पुरुषार्थ करता है, उसे उसके पुरुषार्थ का फल अवश्य प्राप्त होता है—चाहे वह तत्काल मिले या कालान्तर में। अतः यहाँ बताया गया है कि **धैर्य एक ऐसी सवारी है जो अपने सवार को न तो किसी की नजरों में गिरने देती है और न ही किसी के पैरों में।** अतः धैर्य धारण करके आगे बढ़ोगे तो मंजिल तक पहुँच जाओगे। यदि जल्दीबाजी करोगे तो पतित हो जाओगे। आचार्यों ने कहा है—**''विणा धीरं समप्पणं अप्पविस्सासेण य। को वि सगलक्खं ण पप्पोदि''**—''धैर्य, समर्पण और आत्मविश्वास के बिना कोई भी मानव अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता।'' इसीलिए धैर्यवान व्यक्ति धर्म मार्ग से डिगते नहीं हैं।

आगे कहा गया है कि व्यक्ति को बुद्धि से कार्य करना चाहिए। जो व्यक्ति बुद्धि से कार्य करते हैं, वे निःसंदेह सफलता प्राप्त करते हैं। बुद्धि का आशय है–**''हेयोपादेय-णिण्णायग-माणसिक-सत्ती बुद्धि''।** हेय-उपादेय की मानसिक शक्ति को बुद्धि कहते हैं। खदिरसाल भील ने कौए के माँस का त्याग किया। किन्तु पूरे परिवार द्वारा समझाये जाने पर भी, अपने परम मित्र शूरसेन के कहने पर भी नियम नहीं तोड़ा। इस प्रकार उसने अपनी बुद्धि का परिचय दिया। और इतना ही नहीं जब उसे यह ज्ञान हुआ कि मृत्यु के पश्चात् एक माँस का त्याग करने के प्रभाव से वह व्यंतर देव बनेगा, तब उसने तत्काल ही हेय-उपादेय

का विचार किया और समस्त माँसादि अभक्ष्य पदार्थों का त्याग कर दिया। पाँच अणुव्रतों को अंगीकार किया और उसके फल स्वरूप वैमानिक देवों में उत्पन्न हुआ।

महानुभाव! पापकर्मों का त्याग करने में जो समर्थ हो वही वास्तव में बुद्धिमान है। सद्‌बुद्धि किसी भी जीव के भावों को पतित होने से बचा लेती है। आचार्यों ने कहा– **'सव्वविवाद- णिवारगा सियावायठावगा बुद्धि'** बुद्धि समस्त विवादों का निवारण करने वाली होती है और स्याद्वाद की स्थापिका होती है। जिसके पास बुद्धि का बल होता है वह प्रायः विषम परिस्थितियों में भी समाधान निकालने में समर्थ हो जाता है।

आगे कहा गया–**'शक्ति'**। शक्ति क्या है? **''कज्जं कुव्वेदुं समत्था सत्ती''** कार्य करने की सामर्थ्य शक्ति कहलाती है। जो व्यक्ति अपनी शक्ति का सदुपयोग करते हैं, वे निःसंदेह आगे बढते हैं; और जो शक्ति का दुरुपयोग करते हैं, वे पतन को प्राप्त होते हैं। शक्ति चाहे मन की हो, वचन की हो या शरीर की, यदि इन तीनों का प्रयोग समुचित, समीचीन प्रयोजन के लिए, और सकारात्मक रूप से किया जाए, तो उससे अनेक गुणा फल की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त धन की शक्ति और साधनों की शक्ति भी व्यक्ति के अच्छे भाग्य के निर्माण में सहयोगी होती है। इस प्रकार तन, मन, वचन, धन और साधनों की शक्ति का सदुपयोग जब किया जाता है, तब उस कार्य की सफलता को रोकने का सामर्थ्य किसी में नहीं रहता।

और अन्त में छठी बात कही **'पराक्रम'**। **''उच्छाह-साहसेण सत्तुं हणिदुं फुडिदा सत्ती परक्कमो''** उत्साह और साहस के साथ शत्रु को नष्ट करने के लिए जो प्रवृत्ति होती है, वही पराक्रम कहलाता है। पराक्रम युक्त एक सुभट भी बहुत से कायर सैनिकों से श्रेष्ठ है। पराक्रम से हीन राजा भी पराजित माना जाता है। जिस क्षेत्र में जो साहस और पुरुषार्थ किया जाता है, वही उसका पराक्रम कहलाता है।

संयमियों का सबसे बड़ा बल उनका वैराग्य होता है, वैरागी को कोई रागी आकर्षित नहीं कर सकता। उसका वैराग्य ही उसके मार्ग में उसे निर्भीकता और स्थिरता प्रदान करता है।

एक व्यापारी अपनी बुद्धि और पराक्रम के बल से व्यापार जगत में सफलता प्राप्त करता है। एक राजा धन, सेना और अपने पराक्रम के बल पर राज्य का संचालन करने में समर्थ होता है। पराक्रम से युक्त चाहे प्रद्युम्न कुमार हो या कोई अन्य राजा-महाराजा, अपने पराक्रम का सदुपयोग करता है, तो देव और भाग्य दोनों उनका साथ देते हैं। उसी के परिणामस्वरूप वह अपने जीवन में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त करता है।

महानुभाव! यदि ये छह बातें आपके जीवन में भी हों, तो आप भी अपने कार्यों में सफल होंगे और भाग्य भी आपका साथ देगा- इसी मंगल भावना के साथ....

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

मोह छोड़ो, संयम अपनाओ

महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री चन्द्रस्वामी जी ने वैराग्यमणि-माला नामक ग्रंथ की रचना की। कतिपय विद्वानों का मानना है कि वे उच्चकोटि के कवि थे। विषय यह नहीं है कि वे कवि थे या संयमी; बल्कि यह महत्वपूर्ण है कि उन्होंने जो वैराग्यमणिमाला नामक ग्रंथ लिखा, उसकी प्रत्येक कारिका निःसंदेह मणियों के समान है, जो भव्य जीवों के हृदय को सुशोभित करती है।

वैराग्य संसार में सारभूत अवस्था है। आचार्य सकलकीर्ति जी मुनिराज ने सुभाषितरत्नावली ग्रन्थ के प्रारंभ में ही लिखा-**''वैराग्य-सारं भज सर्वकालं''** प्रत्येक समय में वैराग्य का सेवन करना चाहिए। वैराग्य का सेवन करने से चित्त में संक्लेशता उत्पन्न नहीं होती। जिस प्रकार जो व्यक्ति नित्य धर्म का सेवन करता है, उसे पाप छू नहीं पाते; जैसे सूर्य के प्रकाश में रहने वाले को अंधकार स्पर्श नहीं कर पाता; और जैसे सम्यग्ज्ञान की अग्नि आत्मा को शुद्ध करती है और विकारों को नष्ट कर देती है उसी प्रकार जो व्यक्ति वैराग्य के जल से अपने आप को स्नापित करता है, उसे दुःख स्पर्श नहीं कर पाते।

वैराग्यमणिमाला के छठवें काव्य में वैराग्य के विषय में एक सारभूत बात कही गई है। उसे उन्हीं के शब्दों में देखें-

भ्रातर्मे वचनं कुरु सारं, चेत्वं वांछसि संसृति पारं।
मोहं त्यक्त्वा कामं क्रोधं, त्यज भजत्व संयम वर बोधम्।।6।।

यह पद गेय भी है और ज्ञेय भी है। गेय कहिए तो गाने योग्य, और ज्ञेय कहें तो जानने के योग्य। यदि इस पद को किसी विशेष धुन में गाकर पढ़ा जाए तो शरीर में एक प्रकार का कंपन (वॉइब्रेशन) होता है। उससे व्यक्ति का तनाव दूर होता है और जब व्यक्ति तनाव से मुक्त हो जाता है, तभी वह मुक्त आनंद का अनुभव कर पाता है।

जैसे कोई पशु खूँटे से बँधा हो—उसे कितना ही अच्छा चारा क्यों न दे दिया जाए, फिर भी वह खूँटे को छोड़कर मुक्त होना चाहता है; उसे उसमें आनंद नहीं आता। पक्षी पिंजरे में बंद है, उसे चाहे कितना भी स्वादिष्ट भोजन दे दिया जाए, फिर भी वह मुक्त होने की इच्छा ही करता है। कबूतर जैसी प्रकृति के लोग मिथ्यादृष्टि की तरह बार-बार बंधनों को स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु सम्यग्दृष्टि शुक (तोते) के समान होता है—उसे यदि एक बार भी मुक्त होने का अवसर मिल जाए, तो वह तुरंत बंधन से मुक्त हो जाता है।

बंधनों में पड़ा हुआ व्यक्ति सुख का अनुभव नहीं कर सकता। जो मुक्त है वही अनंत सुख का अनुभव करने में समर्थ होता है। इसीलिए यहाँ कहा गया है—**''भ्रातर्मे वचनं कुरु सारं''** हे भाई! मेरे सारभूत वचनों को ग्रहण करो। क्यों? **''चेत्वं वांछसि संसृति पारं''** यदि आप संसार-

सागर के पार जाना चाहते हो—चाहे उसे संसार कहो या दु:खों का दरिया कहो, यदि आपके चित्त में यह भावना जागृत हो गई है कि मुझे अब दु:खों को बार-बार नहीं भोगना। मैं अनादिकाल से जन्ममरण करता चला आ रहा हूँ। मैं अनादिकाल से शरीरगत दु:खों को ही आत्मा का दु:ख मानता चला आया हूँ, शरीर के पोषण को आत्मा का पोषण और शरीर के शोषण को आत्मा का शोषण मानता रहा, परंतु अभी तक आत्मा को नहीं जान पाया। यदि वास्तव में संसार सागर से पार होना है, तो सारभूतवचनों को सुनो।

नि:सार बहुत सारे वचनों को सुनने पर भी आत्महित संभव नहीं है। यदि भूसा 10, 100 या 1000 क्विंटल भी हो, परंतु उसमें एक दाना भी अनाज का न हो, तो उस भूसे को प्राप्त करके मनुष्य तृप्त नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें अन्न नहीं है। और अनाज केवल एक क्विंटल ही क्यों न हो, तो वही सार्थक है। इसी प्रकार जिन वचनों में सार होता है, वे आत्महित करने में समर्थ होते हैं। और जो वचन नि:सार हैं, उन्हें हम अनादि से सुनते भी आए हैं और सुनाते भी आए हैं, किन्तु उनसे आत्महित नहीं हो पाया।

यहाँ कहा गया है कि जो वचन संसार-सागर को पार करने के लिए नौका के समान होते हैं, उन वचनों को ग्रहण करना चाहिए। और वे वचन हैं **'जिनवचन'**। जन्म, जरा और मृत्यु जैसे रोगों का विनाश करने के लिए इस संसार में कोई औषधि है, तो वह एक ही औषधि है—'जिनवचन'। न

पहले कोई दूसरी औषधि थी, न अब है और न आगे कभी होगी। इसलिए सारभूत वचन जिनवाणी के वचन हैं। निःसार वचन संसार में आसक्त प्राणियों के वचन हैं। जिनवाणी के वचन जिनत्व प्रदान करने वाले होते हैं और संसारी प्राणियों के वचन संसार को बढ़ाने वाले होते हैं।

जिसके पास जो होता है, वह वही देता है। जिसके पास पुष्प है, वह सुगंध देता है। जिसके पास प्याज है, वह दुर्गंध देता है। कपूर की डली में कपूर की सुगंध होती है और हींग की डली में हींग की सुगंध होती है। महानुभाव! इसी प्रकार जिनवचन जिनत्व को देने में समर्थ हैं, क्योंकि वे जिनेन्द्र भगवान के वचन हैं। संसारी प्राणियों के वचनों में, मन में संसार बसा होता है। बाहर के संसार में रहना इतना हानिप्रद नहीं है, जितना हानिकारक है हमारे भीतर संसार का बस जाना। संसार में तो अरिहन्त भगवान भी रहते हैं, किन्तु उनके अंदर संसार नहीं रहता। इसलिए यहाँ कहा गया है—सारभूत वचनों को ग्रहण करो।

और क्या ग्रहण करना है? ''वांछसि संसृति पारं'' यदि आप संसार-सागर से पार होना चाहते हो, तो 'मोहं त्यक्त्वा' मोह त्याग करो और 'कामं कोध्रं त्यज'। काम और क्रोध का परित्याग करो। सबसे पहले मोह का त्याग करो। मोह क्या है? **''यः जीवस्य मोहयति पर-द्रव्येषु पर-वस्तुषु वा स्वस्वरूपं विस्मरयति सा मोहः''** जो जीव को द्रव्य या परवस्तु में मोहित कर दे, अपने स्वभाव से च्युत कर दे या

अपने वास्तविक स्वरूप को भुला दे—वही मोह कहलाता है। दूसरे शब्दों में कहें—

पर को अपना मान बैठा, निज को पहचाना नहीं,
भूल है यह आपकी, जो आपको जाना नहीं।
आपको जाने बिना, परमात्म पद पाना नहीं,
परमात्म पद पाकर फिर, संसार में आना नहीं।।

मोह का त्याग किए बिना यह सब संभव नहीं है।

एक युवा लड़का शिक्षा प्राप्त करके भारतीय सेना में भर्ती हुआ और देश की सीमा की सुरक्षा करने के लिए चला गया। जब वह सेवा देने के लिए पहुँचा, तब उसका विवाह हो चुका था। कुछ ही दिनों के बाद उसे वापस ड्यूटी पर जाना पड़ा। वह लंबे समय तक वहीं सेवा करता रहा।

इधर घर पर उसकी पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। यह समाचार उसे मिला, परंतु परिस्थितियाँ ऐसी रहीं कि वह वापस घर नहीं आ सका। वह अपनी पत्नी को माता-पिता के पास छोड़कर गया था। एक वर्ष बीता, तीन वर्ष बीते, पाँच वर्ष बीत गए और क्रमशः बारह वर्ष बीत गए।

माता-पिता वृद्ध हो गए और अंततः मृत्यु के समीप पहुँच गए, परंतु वह अपने कर्तव्यबद्ध सैनिक जीवन के कारण उनके अंतिम समय में भी घर नहीं आ सका। अब घर में उसकी पत्नी और पुत्र—इन दो प्राणियों के अतिरिक्त उनका कोई सहारा नहीं था। अंततः विवश होकर उसने

अपने पति को एक पत्र लिखा–''आप शीघ्र घर आ जाइए, अन्यथा संभव है कि आप मुझे भी जीवित न पा सकें। पत्र पढ़कर सैनिक का हृदय व्याकुल हो उठा। उसने तुरंत उत्तर भिजवया–तुम चिंता न करो, मैं शीघ्र ही घर आ रहा हूँ।

उस समय यातायात के साधन आज जैसे सरल नहीं थे। इसलिए वह अपने घोड़े पर सवार होकर घर की ओर चल पड़ा। उधर उसकी पत्नी ने भी सोचा–''जिस रास्ते से वे आ रहे हैं, क्यों न मैं भी उसी मार्ग से चलूँ? संभव है वे मार्ग में मुझे जल्दी मिल जाएँ। यह सोचकर वह अपने पुत्र को लेकर उसी मार्ग पर चल पड़ी।

संयोग की बात, उस समय यात्रियों के ठहरने के लिए सराय का प्रचलन था। जिस सराय में वह फौजी आकर ठहरा, उसी सराय में वह महिला भी अपने पुत्र के साथ आकर ठहरी। सर्दी की रात्रि थी, बेटे को निमोनिया हो रहा था। वह पीड़ा से रात भर रोता रहा। उसके रोने से उस फौजी की नींद में खलल हो रहा था। आखिरकार सैनिक ने सराय के मालिक को बुलाया और कहा–''यह क्या हो रहा है। मैं सो नहीं पा रहा हूँ। मैंने यहाँ आराम से ठहरने के लिए पैसे दिए हैं। उस स्त्री को यहाँ से निकाल दीजिए।'' सराय के मालिक ने विनम्र स्वर में कहा–''भाई साहब! कोई अबला महिला है, उसका बेटा बीमार है, वह अपने बेटे को चुप कराने का प्रयास कर रही है।'' लेकिन सैनिक ने कठोर स्वर में उत्तर दिया–''मुझे इससे कोई मतलब नहीं।

मैं सो नहीं पा रहा हूँ। मुझे सुबह-सुबह अपने गाँव पहुँचना है। इसे तुरंत यहाँ से निकालो। सराय के मालिक ने विवश होकर उस स्त्री को वहाँ से बाहर निकलवा दिया। उस स्त्री ने कोई विरोध नहीं किया। वह अपने बीमार बेटे को लेकर चुपचाप वहाँ से चली गई। बेटा पहले से ही अत्यंत बीमार था। कड़ाके की सर्दी सहन नहीं कर पाया और कुछ ही देर में उसने दम तोड़ दिया।

उधर पौ फटने के पहले ही फौजी अपने घोड़े पर सवार होकर अपने गाँव पहुँच गया। वहाँ पहुँचने पर उसने देखा- न पत्नी है और न ही पुत्र। उसने गाँव के लोगों से पूछा तो उन्होंने बताया–"आपकी पत्नी आपको खोजने के लिए कुछ दिन पहले ही यहाँ से निकल गई थी।" यह सुनकर सैनिक व्याकुल हो उठा। वह तुरंत अपनी पत्नी को ढूँढ़ने निकल पड़ा। रास्ते में जगह-जगह पूछता हुआ वह उसी सराय में पहुँचा, जहाँ वह रात को ठहरा था। उसने सराय के मालिक से पूछा–एक-दो दिन पहले क्या कोई महिला व छोटा बच्चा यहाँ आया था? सराय के मालिक ने उत्तर दिया–"हाँ कल रात्रि एक महिला आई थी, उसका बेटा अस्वस्थ था। उसने बताया था कि उसका पति फौजी था। फौजी का हृदय धड़क उठा। उसने तुरंत पूछा–"वह स्त्री कहाँ गई?" सराय का मालिक दुखित स्वर में बोला–"भाई साहब, वह स्त्री वही थी जिसे आपने सराय से निकलवा दिया था। पर उसका बच्चा बहुत बीमार था... और उसी रात यहाँ उसने प्राण त्याग दिए।" यह सुनते ही सैनिक

स्तब्ध रह गया। वह वहीं बैठ गया और उसी बालक के लिए रोने लगा।

महानुभाव! स्थिति कितनी विचित्र थी! जिस बालक को उसने अज्ञान से सराय से निकलवा दिया था, वही उसका अपना पुत्र था। तब वह फौजी उस पुत्र के लिए रो रहा था, दु:खी हो रहा था। जिस समय वह उस बच्चे को नहीं पहचानता था, तब उसे सराय से बाहर निकलवा दिया; और अब जब सच्चाई सामने आई, तो उसी के लिए प्राण देने को तैयार है। इसी को मोह कहते हैं।

मोह के विषय में ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं। कई बार ऐसा भी देखने में आता है कि पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर पुत्र को अटैक पड़ गया, या किसी दुर्घटना की खबर से ही व्यक्ति को आघात पहुँच जाता है। ऐसे अनेक प्रसंग मोह की स्थिति को दर्शाते हैं।

महानुभाव! मोह यही कहता है–"तेरे बिना मैं जी नहीं सकता, मेरे प्राण तो तुझमें ही बसते हैं" परंतु यह मोह की विडम्बना है। वास्तव में सब लोग जानते हैं कि किसी के प्राण किसी दूसरे में नहीं बसते, प्रत्येक के प्राण अपने ही शरीर में रहते हैं। किंतु मोही प्राणी पर में इतना आसक्त हो जाता है कि उसके वियोग में वह अपने प्राण छोड़ देता है। इसीलिए यहाँ पर कहा गया है–'मोहं त्यक्त्वा' मोह का त्याग करो। और साथ ही 'कामं क्रोधं' काम व क्रोध का भी त्याग करो। क्योंकि मोह का त्याग किए बिना काम का

त्याग संभव नहीं है और मोह को छोड़े बिना क्रोध का भी त्याग नहीं किया जा सकता।

जब मोह प्रबल होता है तो जिसके प्रति मोह होता है उसके प्रति कामवासना उत्पन्न होती है, और जो उस कामवासना में बाधा डालता है, उसकी सुख-सुविधा में बाधक बन रहा है उसके प्रति क्रोध आ जाता है। इस प्रकार मोह ही काम और क्रोध दोनों का मूल कारण बनता है। इसलिए सबसे पहले मोह को छोड़ना आवश्यक है।

कामवासना में आसक्त 'चारुदत्त' का उदाहरण प्रसिद्ध है। वह वसंततिलका नामक वेश्या के यहाँ बारह वर्ष तक रहा। और बत्तीस करोड़ दीनार वेश्यासेवन में खर्च कर दिए। इसी प्रकार काम में आसक्त रावण ने सीता का अपहरण किया। और काम में आसक्त अंजनचोर रानी का हार चुराने के लिए चला गया। उसने पहले मना भी किया था कि वहाँ जाना मेरा शक्य नहीं है, मैं पकड़ा जाऊँगा।'' किन्तु वेश्या ने कहा-''शायद तुम मुझसे सच्चा प्रेम नहीं करते, तभी तुम्हें अपने प्राणों की इतनी चिन्ता है, मेरे प्राणों की नहीं, और कहते हो कि मेरे प्राण तुममें बसते हैं। जब मेरे प्राण चले जाएँगे तब तुम कैसे जिओगे-इत्यादि बातें सुनकर वह चला गया, पकड़ा भी गया, बाद में विद्या सिद्ध की।

कहने का आशय यह है कि मोह बड़ा प्रबल है। यह मोह अंदर की शक्ति अर्थात् मोक्ष जाने की शक्ति का हनन करता है। इसलिए मोह को छोड़कर कामवासना को कम

करना चाहिए। जिन लोगों ने अपनी कामवासना कम कर ली है, इंद्रियों की आसक्ति कम कर ली है और परवस्तुओं में आसक्ति कम कर ली है, वही व्यक्ति आसक्ति का त्याग करके आत्मसुख के मार्ग पर चल सकता है। और जिसने आसक्ति का त्याग नहीं किया, वह भोगों में पड़कर अंततः मृत्यु को प्राप्त होता है। चाहे सुभौम चक्रवर्ती हो या ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, जो भोगों में आसक्त रहे, वे निःसंदेह अपनी आत्मा का पतन कर दुर्गति को प्राप्त हुए।

महानुभाव! आप सभी क्रोध के विषय में भी जानते हैं कि कोई व्यक्ति कितना भी ज्ञानी हो, कितना भी तपस्वी हो, संयमी हो, साधक हो–क्रोध यदि आ गया तो वह क्रोध अग्नि के समान सब कुछ नष्ट कर देता है। जैसे सूखे जंगल में अग्नि की छोटी-सी चिंगारी भी आ जाए तो वह पूरे जंगल को जलाकर स्वाहा कर देती है, उसी प्रकार क्रोध की अग्नि जलती है और जलने के पहले ही ज्ञान के जल को नष्ट कर देती है, जलते-जलते संयम को, तप को और ध्यान को भी नष्ट कर देती है। द्वीपायन मुनि कितने महान् तपस्वी थे, उनके पास तैजस ऋद्धि थी, फिर भी वे अपने क्रोध पर नियंत्रण नहीं कर पाए, बहुत सहन किया-बहुत सहन किया किन्तु क्रोध के आवेश में पुतला निकला और पूरी द्वारिका भस्म हो गई।

आपने तुंकारी का प्रसंग भी सुना होगा। वह अत्यंत क्रोधी स्वभाव की थी। यदि कोई उसे 'तू' करके संबोधित

करता तो वह बहुत क्रोधित हो जाती थी। एक बार उसका पति किसी मेला आदि देखने के लिए बाहर गया। वहाँ से लौटने में उसे रात्रि हो गई। जब वह घर पहुँचा तो उसने दरवाजा खटखटाया। तीन-चार बार खटखटाने पर भी दरवाजा नहीं खुला। अंततः उसके मुख से 'तू' शब्द निकल गया। बस इतना सुनते ही उसकी पत्नी अत्यंत क्रोधित हो उठी और घर छोड़कर चली गई। चली तो गई, किन्तु उसके बाद उसे जीवन में अनेक संकटों का सामना करना पड़ा। महानुभाव! एक क्षण का क्रोध भी जीवन को नष्ट कर सकता है, और एक क्षण का धैर्य, एक क्षण की क्षमा पूरे जीवन को संवार सकती है। इसीलिए यहाँ कहा गया है-'मोहं त्यक्त्वा कामं-क्रोधं।' मोह का त्याग कर काम और क्रोध का भी त्याग करो।

फिर आगे कहा गया है-'त्यज भज त्व संयमवर-बोधं' संयम और श्रेष्ठज्ञान अर्थात सम्यग्ज्ञान ही मनुष्य के जीवन के वास्तविक आधार हैं। सम्यग्ज्ञान के साथ संयम अविनाभावी रूप से रहता है और उसी के साथ ही सम्यक् चारित्र भी प्रकट होता है। इन तीनों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का सेवन ही संसार-सागर को पार करने का उपाय है।

श्री शांतिनाथ भगवान की जय!

चार प्रकार का प्रशस्त राग

महानुभाव! आचार्य श्री शिवकोटि जी मुनिराज एक महान आचार्य हुए, जिन्होंने सल्लेखना और समाधि से सम्बन्धित एक वृहद्काय ग्रंथ की रचना की। यह ग्रंथ प्राकृत भाषा में रचित है और इतना उत्कृष्ट है कि उसके समान दूसरा ग्रन्थ मिलना कठिन है। दो हजार वर्षों के इतिहास में उत्तम सल्लेखना की विधि बताने वाला दूसरा ऐसा ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है।

इस ग्रंथ का नाम **'भगवती आराधना'** है। इसका शाब्दिक अर्थ घोषित करता है–'भ' अर्थात् दर्शन, 'ग' ज्ञान, 'व' अर्थात् व्रत-चारित्र और 'त' तप। अर्थात् यह ग्रंथ इन चारों की आराधना का मार्ग बताने वाला ग्रन्थ है। इस ग्रंथ में अनेक गाथाएँ हैं और सभी अत्यंत सारपूर्ण हैं। आचार्य महोदय ने स्वयं कहा है–**''जिणसासणे णिच्चं होई'** जो जिनशासन में नित्य रूप में विद्यमान रहता है अर्थात् जो जिनशासन में आ गया है, जिसकी जिनशासन के प्रति रुचि है, जो जिनशासन का पक्षधर है, जो जिनशासन में निष्ठा रखता है और जो जिनशासन की साधना करता है–उन सभी महानुभावों में ये चार बातें पाई जाती हैं।

यहाँ आचार्य महोदय ने राग का निषेध भी किया है, क्योंकि राग ही संसार का कारण है और दुःख का भी कारण है। कवियों ने भी कहा है–

यह राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अब तो, त्याग निजपद बेइये।।

अनादिकाल से इस जीव ने विषय-कषायों का सेवन किया है। अब उनका त्याग कर दीजिए। यह विषयों का राग ही आग के समान है, जो आत्मा को निरंतर जलाता रहता है। चाहे कषायों के प्रति राग हो, चाहे विषयों के प्रति राग हो, चाहे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के प्रति राग हो-यह सब राग आपकी आत्मा को नियम से जलाएगा।

यदि कोई व्यक्ति तेजाब के कुण्ड में गिर जाए, शीतल जल समझ ले, तो उसकी क्या दशा होगी? वह तो जल जाएगा और संभव है अल्प समय में मृत्यु को प्राप्त हो जाए। इसी प्रकार राग के दरिया में मनुष्य कहता है-भईया! राग छूटता नहीं। परंतु ऐसे तो वह कभी नहीं छूटेगा, उसे छोड़ना पड़ता है। जैसे कोई पोस्टर दीवार पर बहुत गहरा चिपक जाए तो वह अपने आप नहीं छूटता, उसे बहुत मेहनत से हटाना पड़ता है। जब वह जीर्ण हो जाता है, तभी छूट पाता है।

हमारी आत्मा में क्रोध भी ऐसा चिपक गया है और हम बार-बार उसका पोषण कर रहे हैं। जैसे किसी वृक्ष को बार-बार जल सिंचन करते जाओ तो उसकी जड़ें और अधिक गहरी होती जाती हैं और उसे उखाड़ना मुश्किल हो जाता है। छोटे पौधे को तो उखाड़ा जा सकता है। उसी

प्रकार जिसका क्रोध अल्प है, उसका नाश करना संभव है; किन्तु जिनके क्रोध, मान, माया और लोभ की जड़ें अत्यंत गहरी हों, उनका नाश करना अत्यंत कठिन हो जाता है।

जिसे अहंकार अधिक होता है, लोक-व्यवहार में वह कहते हुए सुना जाता है कि "मेरे स्वाभिमान की बात है, क्या मैं अपना स्वाभिमान छोड़ दूँ।" परंतु यह स्वाभिमान शब्द ऐसा है, जो अपने अहंकार को पोषित करता है। जैसे बिल्ली, कुत्ता, गाय आदि अपने बच्चों का पालन-पोषण करते हैं, उसी प्रकार अहंकारी व्यक्ति "स्वाभिमान" शब्द कहकर अपने अहंकार का पोषण करता रहता है।

मायाचारी ऐसी चीज है जो दिखने में नहीं आती, मुख पर मीठी-मीठी बातें करते जाओ और अंदर से काटती जाती है। और लोभ की अग्नि ऐसी है कि इसे तो लोग बुरा मानते ही नहीं। यदि किसी वस्तु को देखकर मेरे मन में उसे ग्रहण करने का भाव आ जाए तो लोग कहते हैं—इसमें कोई बुरी बात नहीं है। लोग लोभ को बुरा नहीं मानते, क्रोध को बुरा मानते हैं। ऐसे ही लोग पाँचों पापों को भी बुरा नहीं मानते; किन्तु ये सभी राग प्रतिक्षण हमारी आत्मा को जलाने वाले हैं। संभव है दावाग्नि में पड़ा हुआ कोई प्राणी बच जाए किन्तु कषाय-पाप और पंचेन्द्रिय विषयों में पड़े हुए जीव का वहाँ से बचकर निकलना मुश्किल है।

एक पतंगा भी राग के बल से दीपक की लौ पर जाता है तो जलकर राख हो जाता है। इसी प्रकार एक भौंरा राग

की तीव्रता से कमल की पंखुड़ी में जा बैठता है और वहाँ से निकल नहीं पाता। सूर्यास्त होते ही कमल बंद हो जाता है। तब वह भौंरा वहाँ राग के कारण अपने प्राण दे देता है, परंतु वहाँ से उड़कर बाहर निकलना नहीं चाहता। यह विषयानुराग, पापानुराग, कषायानुराग और रागानुराग अत्यंत खतरनाक है। निःसंदेह ये भववर्धक हैं।

अब प्रश्न होता है कि यहाँ महाराज किस राग की बात कर रहे हैं? आचार्य महोदय यहाँ चार प्रकार के राग की चर्चा कह रहे हैं। यह चार प्रकार का राग जिनशासन में रहने वाले व्यक्ति के लिए संसार में बाँधने वाला नहीं अपितु क्रमशः आपको संसार-सागर से पार कराने में समर्थ होगा। आचार्य महोदय के शब्दों में देखिए-

भावाणुराग - पेमाणुरागमज्जाणुराग - रत्तो व्वा।
धम्माणुरागरत्तो य होहि जिणसासणे णिच्चं॥

-(भग.आ. 736)

सबसे पहले कहा **'भावानुराग'**-यह भावानुराग क्या है? आपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में, धर्मामृत में, सम्यक्त्व के आठ अंगों की कथा में अथवा अन्य ग्रन्थों में पढ़ा होगा-उपगूहन अंग में प्रसिद्ध जिनदत्त श्रेष्ठी बड़े धर्मात्मा थे। वे जिनभक्त, गुरुचरणों के उपासक, स्वाध्याय-प्रेमी और पर्वों में व्रत-उपवास करने वाले थे।

उनके गृह चैत्यालय में वैडूर्यमणि से निर्मित एक छत्र भगवान के ऊपर टंगा हुआ था। यह बात सूर्यदेव (सुवीर)

नामक चोर को ज्ञात हो गई। उस छत्र को प्राप्त करने के लिए चोरों के मध्य वार्ता चलने लगी कि हममें से ऐसा कौन व्यक्ति है जो इसे ला सकता है? सूर्यदेव नाम का चोर कहने लगा–''मैं इसे लाऊँगा।'' अन्य चोरों ने पूछा–''कैसे लाओगे? वहाँ तो बहुत कड़ा पहरा है।'' उसने उत्तर दिया–''आप चिन्ता मत कीजिए, मैं अवश्य लाऊँगा।'' इनाम लेने के लोभ में वह वहाँ आया और उसने नकली ब्रह्मचारी का रूप धारण कर लिया। वह तपस्या करने लगा–एक-एक, दो-दो, चार-चार उपवास करने लगा, स्वाध्याय करने लगा।

क्रमशः ऐसा करते-करते वह जिनदत्त श्रेष्ठी के ग्राम में आ गया। श्रेष्ठी ने उसकी तपस्या के विषय में सुना और उनसे निवेदन किया, ''आप हमारे चैत्यालय में पधारिए।'' पहले तो उसने मना किया, किन्तु श्रेष्ठी के आग्रह करने पर वह उनके साथ चला गया। उसे तो किसी भी प्रकार से उस छत्र में मण्डित वैडूर्यमणि को प्राप्त करना था; इसीलिए उसने ब्रह्मचारी का नकली रूप धारण किया था।

वह ब्रह्मचारी की सभी क्रियाएँ अत्यंत सावधानी से करता। अन्य ब्रह्मचारियों की क्रियाओं में कभी न कभी अतिचार या अनाचार लग जाता है–किसी का स्वाध्याय छूट जाता है, किसी का प्रतिक्रमण छूट जाता है, किसी की सामायिक छूट जाती है–किन्तु ये अपनी सभी क्रियाएँ निर्दोष रूप से करता था। परंतु केवल बाह्य रूप से निर्दोष

क्रियाएँ करना ही पर्याप्त नहीं है। जब तक अंतरंग की विशुद्धि नहीं होती, जब तक अंतरंग में छलकपट है तो निर्दोष क्रिया भी कर्मों से मुक्त करने वाली नहीं अपितु कर्मों को बांधने वाली भी बन सकती हैं।

एक दिन जिनदत्त श्रेष्ठी व्यापार के कार्य से बाहर गए। सूर्यदेव ने सोचा–अब अच्छा अवसर है। रात्रि में उसने छत्र से वैडूर्यमणि निकाल ली और लेकर भाग गया। पहरेदारों ने उसका पीछा किया, पर वह भागता ही गया। वैडूर्यमणि की चमक इतनी तेज थी कि अंधकार में भी दूर से ही दृष्टिगोचर हो रहा था कि ये रत्न लेकर भाग रहा है। अब उसे लगा कि पहरेदार मुझे पकड़कर मार डालेंगे।

संयोग की बात उसी स्थान पर जिनदत्त श्रेष्ठ का तंबू लगा हुआ था। सूर्यदेव तुरंत उसी में घुस गया और सेठ के चरणों में गिर पड़ा। वह बोला–''सेठजी! मैं आपके गृह चैत्यालय से यह छत्र चोरी करके ले जा रहा था।'' सेठजी तंबू से बाहर निकलकर आए और सैनिकों को चोर-चोर कहते सुना। उन्होंने सैनिकों से कहा–''क्या हो गया? आप लोग इस तरह शोर क्यो मचा रहे हो?'' सैनिक बोले–''सेठजी! यह कोई ब्रह्मचारी नहीं, बल्कि चोर है।'' सेठजी ने कहा–अरे! वह वैडूर्यमणि तो मैंने ही मंगायी थी! सैनिकों ने कहा–''सेठ जी! यदि आपको यह मणि चाहिए थी तो किसी और से मँगवा लेते। फिर यह रात में लेकर क्यों भाग रहा था?'' सेठजी बोले–''उसके पास ठहरने

का समय नहीं था, मैंने उससे वह गुप्त रूप में मंगायी थी।'' सेठजी की बात सुनकर सभी पहरेदार और सैनिक लौट गए। बाद में श्रेष्ठी ने सूर्यदेव को समझाया– ''तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था।'' सूर्यदेव को अपनी भूल का पश्चाताप हुआ। उसने अपना नकली रूप त्याग दिया और आगे चलकर वह सच्चा ब्रह्मचारी बन गया।

महानुभाव! कहने का आशय यह है कि सेठजी ने भावानुराग के कारण धर्म की निंदा न हो जाए, इस भावना से सूर्यदेव की चोरी के दोष को भी छिपा दिया। राग किसके प्रति था? धर्म के प्रति। धर्म की रक्षा का भाव ही भावानुराग कहलाता है, जो आत्महित का कारक बन सकता है।

दूसरा राग है– प्रेमानुराग का एक स्पष्ट उदाहरण आता है–मणिचूल व रत्नचूल नाम के दोनों मित्र तपस्या करके स्वर्ग पहुँचे। एक दिवस वे नंदीश्वरद्वीप की वंदना करने के लिए अपने विमान से जा रहे थे। उन्होंने देखा कि मानुषोत्तर पर्वत के आगे कोई मनुष्य नहीं जा सकता। तब उन्होंने अपने सौभाग्य की सराहना की कि हम महाभाग्यशाली हैं जो नंदीश्वर द्वीप की वंदना करने जा रहे हैं, पूर्व जन्म में की गई तपस्या का ही यह पुण्यफल है।'' एक देव ने दूसरे देव से कहा–''आज हमें अपने पूर्व भव के तपश्चरण की स्मृति है; किन्तु सागरों पर्यंत यहाँ हम रहेंगे तो कहीं हमारे वे संस्कार नष्ट न हो जाएँ।'' इसलिए उन्होंने एक संकल्प

लिया कि जो हम दोनों में से पहले मध्यलोक में जन्म लेगा, वह दूसरे को संबोधित करके यह स्मरण दिलाएगा कि हम विषयों में पड़कर अपना जीवन व्यर्थ न करें। यदि मैं पहले गया तो मैं आपको वैराग्य पथ पर बढ़ने का संकेत दूँगा, और यदि आप पहले जाएँ तो आप मुझे संसार में फँसने नहीं देंगे।

इसके बाद रत्नचूल देव पहले च्युत होकर सगर चक्रवर्ती बने। सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र थे और वे उनमें ही आसक्त होकर रहने लगे। तब मणिचूल देव ने देखा कि मेरा मित्र भोगों में लीन हो गया है। अपने संकल्पानुसार वह वहाँ आया और कई बार उसे संसार की असारता समझाने का प्रयास किया; किन्तु सगर चकवर्ती नहीं समझा। तब अंत में उसने प्रेमानुराग के कारण एक स्वांग रचा, जिससे सगर चक्रवर्ती कल्याण के मार्ग पर बढ़ सके।

उसने सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों को मूर्च्छित कर दिया। जब वे कैलाश पर्वत पर खाई खोदने का कार्य कर रहे थे, तब यह घटना हुई। जब सगर चक्रवर्ती के पास पुत्रों की मृत्यु का समाचार आया, तो वे अत्यंत विचलित हो गए। तब उस देव ने ब्राह्मण का रूप धारण करके उन्हें समझाया–''महाराज! जहाँ संयोग होता है, वहाँ वियोग भी निश्चय ही होता है। जन्म–मरण संसार का नियम है। इसलिए अपनी आत्मा का हित कीजिए। पुनः उस देव ने अपने देव रूप में आकर उन्हें पूर्व में किए गए संकल्प की

याद दिलाई है। तब सगर चक्रवर्ती को वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने अपनी आत्मा का हित किया।

महानुभाव! मणिचूल व रत्नचूल का आपसी राग प्रेमानुराग था। उन्हें धर्म से और आत्मकल्याण से अत्यंत प्रीति थी। इसलिए वह प्रीति कभी टूटे नहीं–इस उद्देश्य से उन्होंने यह उपाय किया।

अगला राग कहा–**'मज्जानुराग'**। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ये पाँचों पाण्डव महाभारत के पश्चात् दक्षिण मथुरा गए और संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर उन्होंने दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा लेते ही दुर्योधन के भांजे कुर्युधर ने (क्रूरकर्मा) ने उन पर उपसर्ग किया। उसने लोहे के आभूषणों को तप्त करके उन मुनिराजों को पहनाए। पाँचों पाण्डव समता भाव में लीन रहे। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन के मन में कोई भी विकल्प नहीं आया। वे आत्मलीन रहे। वे जानते थे शरीर अलग है आत्मा अलग है। यह प्रहार शरीर पर हो रहा है, आत्मा पर नहीं। कर्म जल रहे हैं, और आत्मा निर्मल होती जा रही है। सोना नहीं जलता, केवल उसकी किट्ट-कालिमा जल जाती है, उसी प्रकार उन्होंने आत्मा को आत्मा में लीन किया और शुक्लध्यान में स्थित होकर अर्हंत-सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लिया।

किंतु नकुल और सहदेव के मन में थोडा-सा राग आ गया। उनके मन में विचार आया–हम तो इस उपसर्ग को सहन कर पा रहे हैं, परंतु हमारे बड़े भाई इसे कैसे सहन

कर पा रहे होंगे?'' राग आया और उसी समय उन्होंने आयु कर्म का बंध कर लिया, जिससे वे दोनों सर्वार्थसिद्धि गए। यदि यह राग नहीं आता तो वे भी मोक्ष प्राप्त कर सकते थे। यद्यपि यह राग धर्म के निकट था, फिर भी वह मोक्ष में बाधक बन गया। आगे वे भी मोक्ष को प्राप्त करेंगे। इस प्रकार के राग को कहते हैं 'मज्जानुराग'। अस्थि के भीतर जो मज्जा होती है, वही माँस को जकड़कर रखती है। जिस प्रकार मज्जा शरीर को भीतर से बाँधे रखती है, उसी प्रकार यह राग भी जीव को भीतर से बाँधे रखता है। इसलिए इसे 'मज्जानुराग' कहा गया है।

इसके बाद कहा गया है–**'धर्मानुराग'**। धर्म कहिए तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र। जिस व्यक्ति को धर्म में अनुराग है, रत्नत्रय के प्रति अनुराग है, भगवान के अनंत गुणों के प्रति अनुराग है, मुनि महाराज के गुणों के प्रति अनुराग है–वह राग धर्मानुराग की श्रेणी में आता है। यह राग उनके शरीर से नहीं, वरन् उनके गुणों से होता है। शरीर तो मात्र माध्यम है, चाहे वह अरिहंत अवस्था का हो या उनकी मूर्ति–उनके जिनबिम्ब में हम जिनत्व की स्थापना करते हैं। इसलिए धर्म के प्रति जो राग माना जाता है, वह धर्मानुराग कहलाता है।

धर्म का स्वरूप भी धर्मात्मा में ही प्रकट होता है। कहा गया है–**''न धर्मो धार्मिकै विंना''** अर्थात् धर्मात्मा के बिना धर्म नहीं होता। धर्म ईंट-पत्थर, चूने की दीवारों और

छतों में नहीं होता; धर्म तो प्राणी के प्राणों में, उसकी आत्मा में होता है। इसलिए हर प्राणी के प्रति वात्सल्य का भाव रखें, मैत्री का भाव रखें। जो दीन-दु:खी हैं, उनके प्रति करुणा का भाव रखें और जो धर्म के विपरीत हों, उनसे मध्यस्थ भाव रखें। इस प्रकार का भाव रखना ही उचित है।

जब साधर्मी के प्रति धर्म का अनुराग उत्पन्न होता है, तब स्वयमेव प्रभावना होती है। धर्म के प्रति अनुराग आता है, तो उसके प्रति उपगूहन का भाव आता है। और जब उपगूहन का भाव आता है तब गिरते हुए को संभाला भी जाता है। जैसे एक माँ अपने बेटे को देखती है—यदि बेटा ब्लेड या चाकू हाथ में लेकर खेलना चाहता है, तो वह तुरंत उसे पकड़ लेती है, कहीं हाथ कट न जाए, चोट लग न जाए। यदि बेटा दीपक के पास जाकर उसकी ज्योति को पकड़ना चाहता है, तो माँ दौड़कर दीपक हटा देती है, क्योंकि यदि बेटा हाथ डाल देगा तो जल जाएगा। यदि बेटा कुएँ के घाट पर खेल रहा हो, तो वह दौड़कर उसे खींच लाती है। वह माँ बेटे को खतरे के निकट देखकर सब काम छोड़कर बेटे को बचाने के लिए दौड़ पड़ती है। इसी प्रकार धर्मात्मा वह है जो गिरते हुए साधर्मी को थाम ले। जो गिरने वाले को देखकर भी उसे गिरने दे या केवल देखता ही रह जाए, वह धर्मात्मा नहीं कहलाता। इस प्रकार का अनुराग था वारिषेण का।

वारिषेण महाराज श्रेणिक के पुत्र और मगध के राजकुमार थे। वे पर्व के दिनों में सामायिक आदि करते थे। श्मशान

आदि निर्जन स्थानों में ध्यान लगाया करते थे। एक बार जब वह श्मशान में ध्यान में स्थित थे तब एक चोर ने उनके पास हार फेंक दिया। इससे उन पर चोरी का आक्षेप लगाया गया। राजा श्रेणिक ने पूरी जानकारी प्राप्त किए बिना मात्र साक्ष्यों के आधार पर उन्हें दण्ड घोषित कर दिया। किन्तु दण्ड मिल पाता उससे पहले ही देवों ने आकर उनकी रक्षा कर ली।

वारिषेण ने नियम लिया कि यदि मैं इस उपसर्ग से मुक्त हो जाऊँगा तो पाणिपात्र में आहार करूँगा, अर्थात् दिगम्बर मुनि बन जाऊँगा। उपसर्ग दूर हुआ, देवों ने उनकी पूजा की। महाराजा श्रेणिक ने भी क्षमा याचना की। तब वारिषेण ने समस्त प्रजाजनों के मध्य कहा–''मेरे चित्त में किसी के प्रति बैर या द्वेष का भाव नहीं है। मेरे मन में समता है। आप में से किसी ने मेरा बुरा नहीं किया। यह मेरे ही कर्मों का उदय था, इसलिए मुझे ऐसा फल प्राप्त हुआ, मेरा अपमान हुआ, तिरस्कार हुआ, मुझे चोर सिद्ध किया गया–इसमें आप लोगों का कोई दोष नहीं है। किन्तु अब मैं संकल्प ले चुका हूँ कि लौटकर महल में नहीं जाऊँगा। अब, पिताजी! आप मुझे अनुमति दें। मैं दीक्षा लेकर आत्महित करना चाहता हूँ।'' इसके बाद वारिषेण कुमार ने यथाजात दिगम्बर दीक्षा अंगीकार की और तपस्या करने लगे।

एक बार वे राजगृही नगरी आए। वहाँ अपने मित्र पुष्पडाल को देखा। उसकी अभी–अभी शादी हुई थी। वह

मित्र आहार के बाद उन्हें उनके स्थान तक छोड़ने के लिए साथ चल रहा था। वारिषेण उसे अपने साथ ले गए। पुष्पडाल यह कह नहीं सका कि मुझे लौटकर जाना है। वह अन्य-अन्य बहानों से लौटने का संकेत तो कर रहा था। वह कह रहा था–''देखो, ये वही स्थान है जहाँ हम खेलने आया करते थे, वहाँ हम बैठा करते थे।''। वास्तव में वह बताना चाहता था कि मित्र उसे नगर से बहुत दूर न ले जाए।

वारिषेण उसकी बात समझ रहे थे, उनके मन में यह विचार था कि सच्चा मित्र वही है जो अपने मित्र को अहित के मार्ग से निकालकर हित के मार्ग में लगाए, पाप से बचाकर पुण्य में लगाए, भोगों से हटाकर योग की ओर ले जाए और संसार से मोक्ष की ओर ले जाए। इस प्रकार सच्चे मित्र का कर्तव्य निभाते हुए वे उसे साथ ले गए। उन्होंने गुरु महाराज से कहा–''ये दीक्षा लेने के लिए आए हैं। पुष्पडाल कुछ भी नहीं बोला। उसकी दीक्षा हो गई, किन्तु उसका चित्त अपनी पत्नी में ही आसक्त बना रहा।

एक दिन भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में किन्नर और गन्धर्व देवों द्वारा रागवर्धक भगवान की स्तुति चल रही थी। उसे सुनकर पुष्पडाल को अपनी पत्नी और पुत्र का स्मरण हो आया और वह समवसरण से बाहर चले गए। वारिषेण ने देखा कि पुष्पडाल वहाँ नहीं है। वे भी उसके पीछे-पीछे चले गए और राजगृही नगरी में पहुँचकर

रानी चेलना को समाचार भिजवाया–''मैं आ रहा हूँ, अपनी पुत्रवधुओं को तैयार करो।''

चेलना ने सोचा–''मेरे पुत्र के मन में यह राग कहाँ से आ गया? यह कैसा समाचार है?'' तब चेलना रानी ने दो सिंहासन मँगवाए एक काष्ठ का और दूसरा रत्नजड़ित स्वर्ण का। पुष्पडाल रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठ गए और वारिषेण काष्ठ के सिंहासन पर बैठे। रानी को विश्वास हो गया कि मेरा पुत्र अभी भी वैरागी है। वह रत्नों के सिंहासन पर नहीं बैठा, अर्थात् वह राज्य के राग से नहीं आया। वह किसी और उद्देश्य से आया है। वारिषेण ने कहा–''रानी! आप अपनी पुत्रवधुओं को बुलाइए। फिर उन्होंने पुष्पडाल से कहा–''तुम्हें इनमें से जो पसंद हो, उसे आप स्वीकार करो।'' पुष्पडाल ने कहा–''भगवन्! आपने मेरे हृदय के नेत्र खोल दिए, मैं अभी मोह की नींद में सो रहा था, मिथ्यात्व का साया छाया हुआ था, मेरे राग का बंधन आपने तोड़ दिया। और पुनः वह पश्चाताप और प्रायश्चित्त लेकर लौट गए।

महानुभाव! वारिषेण मुनि ने जिस राग के अनुसार अपने मित्र पुष्पडाल को स्थित किया, यह राग धर्मानुराग कहलाता है। ये चार प्रकार के राग यदि मर्यादा के साथ भव्य जीव द्वारा सेवित किए जाते हैं, तो वे राग भी निःसंदेह परम्परा से मुक्ति के कारण बन जाते हैं। किन्तु कषायानुराग, विषयानुराग, पापानुराग और रागानुराग कभी भी भवसागर से

मुक्ति का कारण नहीं बनते।

इस प्रकार आचार्यों ने बताया है कि राग सामान्यत: बंधन का कारण माना जाता है, परंतु यदि वही राग धर्म, गुरु और आत्मकल्याण की दिशा में प्रवाहित हो जाए, तो वही राग साधक को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर कर देता है। इसलिए विवेक यही है कि जीवन में ऐसे रागों का संवर्धन किया जाए, जो आत्मा को अधोगति से बचाकर मोक्षमार्ग की ओर ले जाएँ। आज बस इतना ही...।

श्री शांतिनाथ भगवान की जय!

नियमों का महत्व

महानुभाव! जिनशासन की निर्मल और अक्षुण्ण परम्परा में अनेक त्यागी, तपस्वी, ज्ञानी तथा आत्मध्यानी साधक हुए हैं। अनेक कलाओं के ज्ञाता और अनेक प्रकार की ऋद्धियों के धारक उन आचार्य महोदयों ने अपनी आत्मा का कल्याण करने के साथ-साथ अन्य भव्यजीवों के कल्याण के लिए दिव्यदेशना भी प्रदान की। वह दिव्यदेशना उन सभी पाठकों और भव्य जीवों के लिए हितकर रही, जिन्होंने उसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया।

अष्टम बलभद्र श्री रामचन्द्र जी का चरित्र इतना सुप्रसिद्ध और महान है कि संसार के जितने भी धर्म में आस्था रखने वाले महानुभाव हैं, वे श्री रामचन्द्र जी के व्यक्तित्व को सुनकर अवश्य ही नम्रीभूत होते हैं। उनकी कषाय भी मंद होती हैं, क्योंकि उनका व्यक्तित्व मर्यादापूर्ण और उत्तम था।

समुद्र को रत्नाकर कहा जाता है, क्योंकि वह मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। आकाश ने भी आज तक अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया। पानी ने भी कभी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया वह सदा नीचे की ओर ही बहता है, यह उसकी मर्यादा है। पाषाण ने भी कभी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया। एक बार जहाँ निशान पड़ जाता है, वहीं से टूटता है। इस प्रकार श्री रामचन्द्रजी ने भी अपनी मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं किया। जैनदर्शन में भी

श्री रामचंद्र जी के व्यक्तित्व का वर्णन करने वाले अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ उपलब्ध हैं, जैसे—श्रीपद्मपुराण जी, उत्तरपुराण जी, पउमचरियु तथा रामचरित इत्यादि।

श्री रविषेण आचार्य कृत 'पद्मपुराण' अवश्य ही स्वाध्याय करने योग्य ग्रंथ है। यदि जीवन में आपने अभी तक उसका स्वाध्याय नहीं किया है, तो हमारा आपसे यही संकेत है कि इस ग्रंथ का अवश्य स्वाध्याय करें। इसे बड़े मनोयोग से पढ़ने या सुनने में बहुत आनंद आता है, क्योंकि इसमें अनेक गुणों का वर्णन किया गया है। जब किसी व्यक्ति के दो-चार-छह भवों की कथा सुनते हैं, तब मालूम चलता है कि उसने जैसा किया, वैसा ही फल प्राप्त किया। इस ग्रंथ में पुण्य और पाप की इतनी सुंदर तथा विशद व्याख्या की गई है कि व्यक्ति पाप से डरने लगता है और पुण्य के कार्यों में लग जाता है।

आचार्य महोदय ने जो उपकार किया है, वह शब्दातीत है। कृतज्ञ व्यक्ति जानते हैं कि उपकारी के उपकार का फल किस तरह चुकाना चाहिए, किंतु कृतघ्न लोग उपकारी के उपकार को मानते ही नहीं। वे उपकार प्राप्त करके भी अपकार कर लेते हैं और अपना अहित कर बैठते हैं। श्री रविषेण आचार्य ने पद्मपुराण के 14वें सर्ग में 282वें श्लोक में जैनधर्म की महिमा का वर्णन किया है।

जैनधर्म क्या है? उसकी महिमा क्या है? उसका स्वरूप क्या है? जैनधर्मरूपी वृक्ष का फल क्या है? उसके पुष्प

क्या हैं? उसके पल्लव क्या हैं? उसकी शाखाएँ-उपशाखाएँ क्या हैं? तना और जड़ क्या है? आचार्य महोदय के शब्दों में देखें–

अवाप्य यो मतं जैनं नियमेष्वव तिष्ठते।
अशेषं किल्विषं दग्ध्वा सुस्थानं सोऽधिगच्छति॥

'जैनं मतं अवाप्यं यो' जो कोई भी भव्यजीव जैनधर्म को, जैन कुल को, जैनमत को, जैन साधुओं की संगति को तथा जिनेन्द्र भगवान के सान्निध्य को प्राप्त कर लेता है, और यदि उसका मन जिनायतन में लगा है, तो निःसंदेह मान लीजिए कि वह भव्यजीव है। एक क्षण के लिए भी यदि आपकी रुचि जैनधर्म के प्रति जागृत हुई है–चाहे जिनेन्द्र प्रभु में, चाहे निर्ग्रंथ गुरु में, चाहे जिनवचन में, चाहे जैनधर्म में, तो पक्का मान लीजिए कि वह जीव भव्य है। आप भी यदि रुचिपूर्वक जिनवचनों को सुन रहे हैं, किसी मजबूरी या दबाव में नहीं, तो समझ लीजिए कि आप भी भव्य हैं।

आचार्य पद्मनंदी स्वामीजी ने पद्मनंदी पंचविंशतिका में लिखा है–

तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन येन वार्ताऽपि हि श्रुता।
निश्चितं सा भवेत् भव्य भावी निर्वाण भाजनं॥

जो व्यक्ति जिनवचन को प्रीतिपूर्वक सुनता है, वह निश्चित ही भव्य है और नियम से निकट भविष्य में मोक्ष को प्राप्त करेगा। जो व्यक्ति जैनधर्म, जिनमत, जिनेन्द्र

भगवान और जैन कुल को प्राप्त करके, जैन शास्त्रों को याद करके जिनवचन को बेचते हैं, उन्हें जैनदर्शन में श्रेष्ठ नहीं कहा। जिनवाणी को कैसे बेचा जा सकता है? क्या कोई अपनी माँ को बेच सकता है? जिनवाणी तो हमारी माँ है, उसे कैसे बेचा जा सकता है? जिनवाणी की कृपा से, उसके परम प्रसाद से जो क्षयोपशम प्राप्त हुआ है, उससे हम स्वयं के ज्ञान की वृद्धि करते हुए दूसरों के ज्ञान संवर्धन में भी निमित्त बनें। यह कहकर नहीं कि–"मैं आपके यहाँ दस दिन प्रवचन देने आऊँगा तो 51,000 रुपये लूँगा, एक लाख रुपये लूँगा, या इससे कम 31-21 हजार लूँगा।" ऐसे जिनवचनों को बेचना उचित नहीं है। हाँ, यदि समाज के लोग आपके उपकार को मानकर सम्मान करते हैं, तिलक लगाते हैं, वस्त्र, शॉल आदि देते हैं या जो कुछ भी श्रद्धापूर्वक दें, उसे चुपचाप स्वीकार कर लेना चाहिए; किन्तु माँगना उचित नहीं है।

यहाँ कह रहे हैं कि जैन मत को प्राप्त करके क्या करना चाहिए? **'नियमेषु अवतिष्ठते'** अपने जीवन को यम-नियम और व्रत-संयम से मण्डित करना चाहिए। यदि अपने जीवन को यम-नियम और व्रत-संयम से सुसंस्कारित नहीं किया, तो जिनवचन का महत्व आपने समझा ही नहीं। जिनवचन का वास्तविक महत्व यह है कि वह व्यक्ति को अहित के मार्ग से बचाता है और हित के मार्ग में प्रवृत्त कराता है। यदि जिनवचन को सुनकर भी आपने अहित का मार्ग नहीं

छोड़ा और आत्महित को प्राप्त नहीं किया, तो फिर उन वचनों को पढ़ना और सुनना व्यर्थ है।

जिनवचन के द्वारा भव्य जीव मोक्षस्थान को जानते हैं, ज्ञानीजन मोह को छोड़ते हैं। जो अक्षय सुख का आधार हैं और जो तीनों लोकों में शुद्धि प्रदान करने वाले हैं, ऐसे जिनेन्द्र वचनों को प्राप्त करके मनुष्य को आत्महित में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। जिनवचनों को प्राप्त करके व्रतों को धारण करना ही चाहिए। पंचाध्यायीकार कहते हैं–

संयमो द्विविधश्चैव विधेयो गृहमेधिभिः।
विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः।।

गृहस्थों को दोनों प्रकार का संयम धारण करना चाहिए या तो प्रतिमा रूप व्रतों को धारण करें, अथवा अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिमाओं के बिना भी व्रतों का पालन करें।

महानुभाव! यदि किसी व्यक्ति के पास शीतल, मधुर और प्यास को बुझाने वाला जल हो और वह व्यक्ति प्यास से तड़प रहा हो, प्राण कण्ठ में आ गए हों, फिर भी वह जल का पान न करे–तो क्या उसे कोई बुद्धिमान या विवेकी कहेगा? नहीं, उसे तो मूर्ख ही कहा जाएगा।

जिस व्यक्ति को कोई रोग हो और औषधि भी उसके पास हो, फिर भी वह उसका सेवन नहीं करे–उसे कौन बुद्धिमान कहेगा? जिस व्यक्ति को ठंड लग रही हो और उसके पास कम्बल भी हो, फिर भी वह उसका उपयोग न करे–कौन उसे विवेकी कहेगा? कोई नहीं। इसी प्रकार

जिसने जिनवचन को सुना है, भगवान की वाणी को सुना है, उसे सुनकर भी जो संयम को अंगीकार न करे तो उसे विवेकी कोई नहीं कहेगा। आज हमारा पुण्य का उदय है कि हम जिनकुल में पैदा होकर जिनधर्म को समझ रहे हैं। जिनसाधुओं के चरणों की पवित्र रज अपने माथे से लगा रहे हैं। जो इस मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होता है, व्रती बनता है, महाव्रती बनता है—यह निःसंदेह पूर्व जन्मों के पुण्य का फल है।

आपको जिनधर्म मिला, जिनकुल मिला, जिनसंगति और जिनेन्द्र भगवान का सान्निध्य मिला—तो इसे प्राप्त करके क्या करना चाहिए? अपने जीवन में नियमों को ग्रहण करना चाहिए। यदि अष्टमी-चौदस का उपवास नहीं कर सकते तो एकासन करें। एकासन भी नहीं कर सकते तो बंधा हुआ भोजन दो बार लो। आप नित्य देवदर्शन करने का नियम लो। रात्रिभोजन त्याग का नियम लो। जमीकंद त्याग करो। जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक का नियम लो, जाप का नियम लो, शीलव्रत का पालन करने का नियम लो। कोई न कोई नियम तो अवश्य लेना चाहिए।

बिना नियम के जीवन सुरक्षित नहीं है। यदि घोड़े के लगाम न लगाई जाए तो घोड़ा सवार व्यक्ति को कहीं भी गिरा सकता है। यदि बैल के नाथ न लगाई जाए तो वह बैल खेत में ठीक से काम नहीं करेगा। यदि हाथी पर अंकुश न लगाया जाए तो वह उच्छृंखल हो जाएगा। इसी

प्रकार यदि नदी का पानी दो तटों के बीच न बहे तो वह सृजन के स्थान पर विध्वंस कर देगा। हमारा जीवन भी यदि संयम से समन्वित नहीं है तो वह बिना ब्रेक की गाड़ी की तरह अत्यंत खतरनाक हो जाता है, इसीलिए कहा गया है–'नियमेषु अवतिष्ठते' अर्थात् मनुष्य को नियमों में स्थित होना चाहिए। सम्यक्त्व कौमुदी में लिखा है–

निःसौभाग्यौ भवेन्नित्यं, धन-धान्यादि-विवर्जितः।
भीतमूर्त्तिः सदा दुःखी, व्रतहीनश्च मानवः।।395।।

व्रतहीन मनुष्य सदा सौभाग्य से रहित, धन-धान्यादि से वंचित, भयभीत और दुःखी रहता है।

महानुभाव! नियम, व्रत और संयम का विकास ही आत्मा का वास्तविक विकास है। जैसे-जैसे जीवन में व्रत और संयम का आगमन होता है, वैसे-वैसे आत्मा धर्म से पूरित होती जाती है।

घुटनों के बल चलते-चलते पैर खड़े हो जाते हैं।
छोटे-छोटे नियम एक दिन बहुत बड़े बन जाते हैं।।

कौवे के माँस का त्याग करने वाला पुरुरवा भील भी भगवान महावीर स्वामी बन सकता है। खदिरसाल भील भी माँसत्याग करने से भविष्य में तीर्थंकर होगा। वास्तव में, थोड़ा भी त्याग और संयम करने से जीव का भविष्य महान बन सकता है। घुटनों के बल चलते-चलते ही एक दिन बालक अपने पैरों पर खड़ा होकर चलने लगता है।

प्रातःकाल चार पहर, मध्याह्नकाल दो पहर और संध्याकाल तीन पहर यानि बाल्यावस्था में मनुष्य घुटनों के बल चलता है। जब वह दो हाथ और दो पैरों के सहारे चलता है तो उसे कहा चार पहर। मध्याह्नकाल यानि यौवन अवस्था में वह अपने दो पैरों पर चलने लगता है। और सन्ध्याकाल यानि वृद्धावस्था में वह दो पैरों के साथ एक लाठी का भी सहारा लेकर चलता है, तब मानो तीन पहर हो जाते हैं। अर्थात् घुटनों के बल चलने वाला बालक धीरे-धीरे बड़ा होकर समर्थ बन जाता है, उसी प्रकार जीवन में छोटे-छोटे नियम लेने वाला मनुष्य भी आगे चलकर बहुत बड़ा बन जाता है।

यदि कोई व्यक्ति एक रात्रि के लिए भी चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देता है तो उसे उपवास के समान फल प्राप्त होता है। और जो व्यक्ति एक साल के लिए रात्रि में चार प्रकार के आहार-जल का त्याग करता है, उसे मानो छह महीनों के उपवास का फल प्राप्त होता है। यदि कोई व्यक्ति एक दिन भी संकल्पपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है तो उसे भी महान फल प्राप्त होता है। एक बार भी यदि महामंत्र का जाप किया जाए तो उसकी एक माला भी महापापों का नाश करने वाली हो सकती है।

एक बार एक राजा शराब पीता था। वह मुनिराज के पास गया। मुनिराज ने कहा-''शराब का त्याग कर दो'' राजा बोला ''मैं शराब का त्याग नहीं कर सकता।'' मुनिराज

बोले–''अरे! कुछ तो त्याग कर दो'', हमेशा थोड़े ही पीते होंगे, कोई समय तो ऐसा होगा जब तुम शराब नहीं पीते हो? राजा ने कहा–जब मैं पीता हूँ तो मेरा कोई निश्चित समय नहीं होता। मैं पूरे दिन में कभी भी पी लेता हूँ।'' मुनिराज ने कहा–''अच्छा, एक बात बताओ–तुम कहाँ पीते हो?'' राजा बोला–मेरे कमरे में मेरी टेबल पर मेरी बोतल रहती है। वहीं जाकर पीता हूँ। मेरी अलमारी सजी रखी रहती है बोतलों से। अपने कमरे के अलावा मैं कहीं और जाकर नहीं पीता। मुनिराज ने कहा–''तो ठीक है तुम इस प्रकार का नियम ले लो कि जब तक अपने कमरे तक नहीं पहुँचो, तब तक शराब नहीं पिओगे।'' राजा ने कहा–''ठीक है, यह नियम तो मैं ले सकता हूँ और उसने यह नियम ले लिया।

एक दिन वह अपने कमरे से शराब पीकर बाहर निकला और दरवाजे से टकराकर नीचे गिर पड़ा। जब वह गिरा तो मूर्च्छित हो गया। लोग इकट्ठे हो गए और कहने लगे–''इसके मुख में शराब डाल दो, यह होश में आ जाएगा।'' राजा ने थोड़ी चेतना पाकर कहा–''नहीं, यह मेरा नियम है कि मैं अपने कमरे के अतिरिक्त कहीं और शराब नहीं पीता। अभी मेरा त्याग है, मैं वहीं जाकर पीयूँगा।'' और उसी नियम का पालन करते-करते उसका प्राणान्त हो गया, पर उसने अपना नियम नहीं तोड़ा।

ऐसे अनेक उदाहरण हैं। वसुभूति, जिसने पंचमी व्रत का नियम लिया और उसी नियम का पालन करते हुए उन्होंने समाधि को प्राप्त कर लिया; किन्तु नियम नहीं तोड़ा।

एक सियार ने रात्रिभोजन का त्याग किया था। वह बार-बार बावड़ी में पानी पीने जाता। अंधेरा देखकर लौट आता। फिर जाता, फिर लौट आता। ऊपर देखता तो सूर्य दिखाई देता, नीचे जाता तो अंधकार दिखाई देता। इस प्रकार वह कई बार ऊपर आया, नीचे गया, किन्तु तब तक सचमुच रात्रि हो गई और उसने रात्रि में चारों प्रकार के आहार त्याग के नियम को नहीं तोड़ा और मृत्यु को प्राप्त हो गया। मृत्यु को प्राप्त कर वह प्रीतिंकर बना, मोक्षगामी जीव हुआ। महानुभाव! छोटे-छोटे नियम भी जीवन में बहुत बड़ा प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

जो भव्यजीव नियमों से अपनी आत्मा को तिष्ठित करता है, वह ऐसे ही है जैसे हीरे को स्वर्ण में जड़ दिया जाए। ऐसे ही नियमों के स्वर्ण में जिसकी आत्मा रत्न की तरह से जड़ गई हो, उस आत्मा को संसार में कौन पतित कर सकता है, कोई नहीं कर सकता।

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के विषय में आता है—वे बचपन से ही वैरागी प्रवृत्ति के थे। भोगविलास की जिंदगी से वे कोसों दूर रहते थे। स्वाध्याय के प्रति उनकी विशेष रुचि थी और वे जिनवचनों को पढ़कर तथा सुनकर उन्हें अपने जीवन में उतारते थे। वे सदैव मर्यादित, शुद्ध, प्रासुक और सात्विक आहार ग्रहण करते थे। बचपन से ही जो वस्तु थाली में आ जाती, उसे

वे प्रमुदित मन से मौनपूर्वक ग्रहण कर लेते थे। वे मखमली गद्दों आदि का उपयोग भी नहीं करते थे।

उनकी जीवनचर्या सद्गृहस्थों के लिए आदर्श थी। यही कारण है कि अपने श्रमण जीवन में भी उन्होंने आज आदर्श रूप में पूज्यता प्राप्त की है। संयमी जीवन में वे सदैव कोई न कोई विशेष व्रत-नियम धारण करते रहते थे। जब उनका चातुर्मास ललितपुर में चल रहा था, तब उन्होंने षट्रस त्याग का संकल्प लिया। इस कठिन त्याग के पश्चात उन्होंने सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत का उल्लेख पढ़ा। उनकी प्रवृत्ति ऐसी थी कि कोई कार्य जितना अधिक कठिन होता, उसे वे उतनी ही दृढ़ता से करने का प्रयास करते। यह दम्भ या अभिमान के कारण नहीं, बल्कि आत्मपरीक्षा की भावना से। वे स्वयं को तपस्याओं की परीक्षाओं में निरंतर परखते रहते थे। इसी भावना से उन्होंने षट्रस त्याग के साथ-साथ सिंहनिष्कीड़ित नाम के महाकठिन व्रत का भी पालन करने का संकल्प कर लिया।

एक ओर षट्रस का त्याग और ऊपर से सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत जैसा कठोर व्रत—साधारण समय में भी दिगम्बर मुनि एक ही बार आहार करते हैं और उसी समय जल ग्रहण करते हैं। ऐसी चर्या के साथ इस कठिन व्रत को धारण करने के लिए कितनी दृढ़ता और साहस चाहिए यह सहज ही समझा जा सकता है। अदम्य साहसी व्यक्तित्व का धारी ही ऐसा कर सकता है।

महानुभाव! जब वे यह कठोर व्रत कर रहे थे, उसी समय उन्हें मलेरिया ने आ घेरा। एक ओर इतना कठिन व्रत और ऊपर से रोग का प्रहार–परिणाम यह हुआ कि महाराज का शरीर सूखकर मानो लकड़ी के समान हो गया। शरीर तो मात्र चमड़े से ढका हुआ हाड़–पिंजर ही दिखाई देता था। उन्हें देखकर भक्तों की आँखों से आँसू छलक पड़ते थे, किन्तु उस महादृढ़ योगी आचार्य भगवन् ने तन की तनिक परवाह नहीं की और अपने व्रत में दृढ़ बने रहे। भक्तों ने बहुत निवेदन किया! "आचार्यश्री! अभी वर्तमान में आपके शरीर की स्थिति ठीक नहीं है। महाराज! तनिक विश्राम कर लीजिए, कहीं आप विचलित न हो जाएँ।" परंतु वे इस अत्यन्त कठिन परीक्षा में पूर्णतः सफल हुए। उन्होंने अपने सभी व्रतों का पालन नियमपूर्वक पूरा किया और साथ ही स्वस्थ भी हो उठे।

जैसे सुवर्ण अग्नि में दीर्घकाल तक तपकर और अधिक कुन्दन बनकर निकलता है, उसी प्रकार तप और संयम की अग्नि में तपकर उनका व्यक्तित्व और अधिक तेजस्वी हो उठा।

विघ्नैः मुहुर्मुहुरपि प्रतिहन्यमानाः।
प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति।। (भर्तृहरि)

महानुभाव! जीवन के किसी भी क्षेत्र में अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने से पहले अनेक विघ्न–बाधाओं को पार करना पड़ता हैं। किन्तु जो अपने व्रत–नियम और संकल्प में

दृढनिश्चयी नहीं होते, जिनका संकल्प स्थिर नहीं होता, वे थोड़ी-सी विघ्न-बाधाओं का सामना होते ही हिम्मत हार जाते हैं, नियम तोड़ देते हैं, और अपने मार्ग से भटक जाते हैं। परंतु सफल वही होता है जो विघ्नों से बार-बार टकराने पर भी अपने नियम, संकल्प और रत्नत्रय के पथ से तनिक भी विचलित नहीं होता।

आचार्य महोदय यहाँ यही कहना चाहते हैं-'अशेषं किल्विषं दग्ध्वा' अर्थात् जो व्यक्ति नियम लेता है, व्रत धारण करता है और संयम का पालन करता है वह अपने सम्पूर्ण पापों को जला देता है। जब पाप नष्ट हो जाते हैं तो शेष बचे हुए पुण्य के प्रभाव से वह सुरसुख, नरसुख, मोक्षमार्ग और सिद्धत्व की प्राप्ति करता है। **'पुण्यफला अरिहंता'** पुण्य का फल अरिहंत अवस्था तक प्राप्त होता है। पाँच परमेष्ठियों की अवस्थाओं में सिद्ध परमेष्ठी को छोड़कर अन्य चार परमेष्ठियों की अवस्था पुण्य के उदय से प्राप्त होती है।

महानुभाव! इसीलिए जो व्यक्ति नियमों में अवस्थित रहता है, जैन मत को प्राप्त कर अपने नियम और संयम को नहीं तोड़ता-''सुस्थानं सोऽधिगच्छति'' वह भव्य जीव निश्चित रूप से सुस्थान अर्थात् सिद्धत्व अवस्था को प्राप्त करता है। इसमें किंचित भी संदेह नहीं है। इसलिए आचार्य भगवन् श्री रविषेण स्वामी जी ने कहा है कि यदि आप वास्तव में जैन कुल में पैदा हुए हैं। आपने इस कुल की

गरिमा–महिमा को जाना है। आपको इतना ज्ञान है कि मनुष्य अवस्था प्राप्त करना बड़ा कठिन है, सत्संगति प्राप्त करना उससे भी कठिन है और अपनी बुद्धि को धर्म में स्थिर करना तो उससे भी अधिक दुर्लभ है। इतनी दुर्लभता को जानकर निःसंदेह आपको क्या करना चाहिए? अपने जीवन को नियम, व्रत और संयम से सजाना चाहिए।

लोग मकान सजाते हैं, दुकान सजाते हैं, शरीर सजाते हैं, परंतु जीवन को संयम से सजाने वाले बहुत दुर्लभ होते हैं। देह को सजाओगे तो सजा मिलेगी। यदि सजाना ही है तो अपनी आत्मा को सजाओ–गुणों से, व्रतों से, नियमों से। जिससे आपकी आत्मा परमात्मा की अवस्था को प्राप्त करने योग्य बन सके।

श्री शांतिनाथ भगवान की जय!

मन–विजय का मार्ग

महानुभाव! एक सूक्ति आपने सुनी होगी–**''मन एव मनुष्याणां कारणं बंध-मोक्षयोः''** मनुष्यों के लिए मन ही बंध और मोक्ष का कारण है। मनुष्य के पास मनोयोग, वचनयोग और काययोग ये तीनों होते हैं, फिर अकेले मनोयोग की बात क्यों कही?

कथन प्रायः प्रचुरता की अपेक्षा से किया जाता है। कभी-कभी अल्प का भी कथन होता है, किंतु सामान्यतः प्रचुरता का ही कथन किया जाता है। जैसे इलेक्शन में दो व्यक्ति खड़े हुए एक व्यक्ति को 51% वोट मिले और दूसरे को 49%, तो जिसके वोट अधिक हैं, वही विजयी कहलाएगा। किंतु जहाँ बहुत ज्यादा अंतर हो, वहाँ उसी का कथन किया जाता है।

''मन एव मनुष्याणां...'' इस उपरोक्त सूक्ति का आशय यह है कि मनुष्य के पास मन सबसे ज्यादा शक्तिशाली साधन है। कार्माण वर्गणाओं को प्राप्त करने के लिए तथा कर्मों को निर्जीण करने के लिए मन ही प्रमुख साधन है। मन सर्वाधिक कार्माण वर्गणाओं को ग्रहण करता है और मन से ही सर्वाधिक कर्मनिषेकों की निर्जरा भी होती है। अतः जिसकी बहुलता होती है, उसी का पहले कथन किया जाता है–जघन्य और नगण्य का नहीं।

यहाँ पर बहुलता की अपेक्षा से कथन किया गया है। इसीलिए जब व्यक्ति साधना के क्षेत्र में उतरता है, आध्यात्मिक दृष्टि को लेकर आगे बढ़ता है, आत्मा के वैभव को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करता है, जिसकी गवेषणा आत्मा के स्वभाव को जानने की होती है, जो आत्मा के गुणों का अन्वेषक है और जिसके अंदर संसार भ्रमण के कारणों को नष्ट करने की तीव्र छटपटाहट है, वह अपने मन का शोधन करता है।

जलेन जनितं पंकं, जलेन परिशुद्ध्यति।
चित्तेन जनितं कर्मं, चित्तेन परिशुद्ध्यति॥

जल के द्वारा कीचड़ उत्पन्न होती है। मिट्टी में पानी गिर जाए तो कीचड़ बन जाती है और उस कीचड़ को जल से ही धोया जाता है। इसी प्रकार मन से बहुत अधिक कर्म बंधते हैं। यदि शरीर की साधना बहुत अधिक भी करें, तो भी इतने कर्मों का क्षय नहीं कर सकते। करोड़ों भवों तक शरीर की साधना करते रहें, तब भी इतने कर्मों का क्षय संभव नहीं है। कर्मों का क्षय मन की साधना से ही संभव है। मौन से इतना क्षय नहीं होता। यदि मन स्थिर नहीं है, तो मौन साधना करके भी करोड़ों भवों तक तपस्या करते रहें, फिर भी कर्मों का क्षय नहीं होगा।

इसीलिए आचार्य भगवन् श्री उमास्वामी जी मुनिराज ने ध्यान के संबंध में कहा है **''उत्तम-संहननस्यैकाग्र चिन्ता निरोधोध्यानमान्तर्मुहुर्तात्''** उत्तम संहनन वाले व्यक्ति का

चित्त स्थिर होता है। वही उत्तम ध्यान को प्राप्त करता है। किन्तु जघन्य और मध्यम संहनन वाले व्यक्ति अपने चित्त को कुछ देर के लिए स्थिर करने का प्रयास करते हैं। चित्त को तत्त्वचिंतन आदि में लगाते हैं, उनका भी वह धर्मध्यान कहलाता है। यह धर्मध्यान उनके लिए आत्महित व मोक्षमार्ग का साधन बनता है।

आचार्य श्री नागसेन मुनि ने "तत्त्वानुशासन" नाम का ग्रंथ लिखा। वह बड़ा आध्यात्मिक ग्रंथ है। उसकी एक-एक कारिका चिंतन करने योग्य है। एकांत में बैठकर उसका अध्ययन किया जाए तो बहुत विशुद्धि बढ़ती है। उसी ग्रंथ की एक कारिका को यहाँ समझने का प्रयास करते हैं। देखते हैं, आचार्य महोदय ने क्या लिखा है–

सञ्चिन्तयनमनुप्रेक्षा, स्वाध्याये नित्यमुद्यतः।
जयत्येव मनः साधुरिंद्रियार्थ-पराङ्मुखः॥86॥

आचार्य महोदय ने तीनों योगों को नियंत्रित और संयमित करने की बात कही। "जयति एव मनः साधुः"–साधु ही मन को जीतने में समर्थ होता है।

साधु ही मन को जीतता है, क्यों? क्योंकि वह तीनों योगों पर नियंत्रण करने में समर्थ होता है। गृहस्थ तीनों योगों पर पूर्ण नियंत्रण नहीं कर सकता, इसलिए वह मन को जीत नहीं सकता। हाँ, वह मन को दिशा अवश्य दे सकता है–अशुभ से शुभ की ओर, शुभ से शुभतर की ओर और शुभतर से शुभतम की ओर। या अशुभतम से हटाकर

अशुभतर में लाए, अशुभतर से अशुभ में लाए और फिर अशुभ से शुभ में ले आए।

जिस प्रकार गाड़ी को अचानक ब्रेक लगाओगे तो वह बिगड़ सकती है। अब क्या किया जाए? यदि सामने से कोई सीधी गाड़ी आ रही हो, और ब्रेक न लगाया जाए तो टक्कर हो जाएगी। कुशल ड्राइवर किसी भी चलती गाड़ी में यकायक ब्रेक न लगाकर, गाड़ी को वृक्ष आदि की ओर मोड़ देता है। जिससे टक्कर का प्रभाव कम हो जाता है और गाड़ी में बैठे लोगों की रक्षा भी हो जाती है। इसी प्रकार गृहस्थ अपने मन को डाइवर्ट करता है। वह अशुभ क्रियाओं में लगा हुआ था, तो उसे शुभ क्रियाओं में लगा देता है। यदि शुभ क्रिया नहीं करेगा, तो अशुभ क्रिया कैसे छोड़ेगा?

अशुभ वचनों को छोड़कर शुभ वचनों को बोलता है। मौन रहने से तो उसे चक्कर आने लगता है, आँख बंद करते ही नींद आने लगती है, इसलिए शुभ चिन्तन चल नहीं पाता। इस कारण वह बोल-बोलकर पाठ करता है और उसके अर्थ को समझता है। किन्तु-''साधुएव जयति मन:'' साधु ही मन को जीतने में समर्थ होता है। कैसे जीतता है? वह भी क्रम से जीतता है, अक्रम से नहीं। सीढ़ियों के समान क्रम से चढ़ता है, ऐसा नहीं कि चतुर्थकाल की भाँति आध्यात्मिक जगत में सीधी उड़ान भर ले। इस पंचमकाल में इतनी बड़ी उड़ान संभव नहीं है। यह एरोप्लेन की तरह नहीं है कि जमीन से सीधे आकाश में पहुँचा जाए। क्रमशः

एक–एक सीढ़ी चढ़कर ही वह ऊँचाई को प्राप्त करता है। यहाँ पर भी साधु मन को जीतने के लिए सीधे मन पर प्रहार नहीं करता, वह क्या करता है?

जिस प्रकार एक विवेकी राजा अपने शत्रु को जीतने के लिए पहले उसकी शक्ति को क्षीण करता है। उसकी शक्ति कैसे क्षीण की जा सकती है? जैसे–सेना में विद्रोह हो जाए, अस्त्र–शस्त्र नष्ट हो जाएँ या जहाँ सेना खड़ी हो, वहाँ बम विस्फोट कर दिया जाए, तो सेना बिखर जाती है। शक्ति क्षीण हो जाने पर वह आक्रमण भी करेगा, तब भी राजा जीत जाएगा। इसी प्रकार साधु भी मन, वचन और काय की शक्ति को क्षीण करता है।

सर्वप्रथम साधु कमजोर कड़ी को पकड़ता है। जैसे–परिवार में भेद डालना हो, तो परिवार की जो सबसे कमजोर कड़ी है, उसे पकड़कर भेद डाला जाता है। देखो, तुम्हारा भाई ऐसा करता है, वैसा करता है; तुम्हारे पिता ने ऐसा किया–ऐसी बातें करके कमजोर कड़ी को पकड लिया जाता है, जिससे परिवार टूट जाता है, बिखर जाता है। परंतु जो समझदार होता है, वह अपने परिवार की बुराई न करता है न सुनता है। साधु सबसे पहले ''इंद्रियार्थ पराङ्मुखः'' इंद्रिय के विषयों से पराङ्मुख हो जाता है।

पंचेन्द्रियों के विषय सभी जानते हैं–स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ये इनके विषय हैं। 8 स्पर्श, 5 रस, 2 गंध, 5 वर्ण और 7 स्वर–इन विषयों को ग्रहण करने की मना

नहीं किया। यह नहीं कहा गया कि आँख बंद कर लो, कान बंद कर लो, नाक बंद कर लो या शरीर को बाँध लो—ऐसा नहीं है। इसका भाव यह है कि इन इंद्रियों की प्रवृत्ति को भोग में न लगाकर योग में लगाओ। निवृत्ति-परक प्रवृत्ति करो।

जो साधु इंद्रियों से पराङ्मुख होता है, वह शरीर की गर्मी-सर्दी को सहन करता है, रुक्ष-स्निग्ध को सहन करता है, कठोर-नर्म को सहन करता है, हल्के-भारी को सहन करता है। जिसकी पाँच प्रकार के रसों में आसक्ति नहीं होती—जैसा मिले वैसा ही ग्रहण कर लेता है, उदरपूर्ति कर लेता है। गंध में भी उसकी कोई आसक्ति नहीं होती—चाहे सुगंध हो या दुर्गंध, वह समभाव रखता है। चाहे पदार्थ किसी भी वर्ण का दिखाई दे रहा है, वह उसमें आसक्त नहीं होता। न राग करता है न द्वेष। शब्द जैसा भी सुनाई दे—कर्कश या मधुर, निंद्य या परुश—जो भी सुनाई दे रहा है, वह सुन तो रहा है किंतु अपने मन को विचलित होने नहीं देता।

जो कुछ इंद्रियों को चाहिए वह सब मत दो। यदि कम्पनी का मालिक अपने कर्मचारियों को मनमानी करने से रोकना चाहता है, तो वह उनका काम बढ़ा देता है, या उनका स्थान बदल देता है। कई बार सरकार भी ऐसा ही करती है—जो अधिकारी अधिक परेशान करता है, उसका तबादला कहीं दूर कर देती है। अब वह क्या करेगा? ठीक

इसी प्रकार साधक इंद्रिय को पराङ्मुख कर देता है–उनका मार्ग बदल देता है। **विषयों की पराङ्मुखता भी मन को जीतने का एक प्रमुख साधन है।**

महानुभाव! इन्द्र–सदृश भोगों के स्वामी चक्रवर्ती वज्रदन्त विदेह क्षेत्र में बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं के मध्य अपनी सभा में सिंहासन पर विराजमान थे। संयोग की बात है–उसी समय वनमाली के द्वारा लाए गए कमल में एक मृत भ्रमर को देखकर उन्हें भेद–विज्ञान हो गया। उनके हृदय में वैराग्य की धारा उमड़ पड़ी, अहो! एकमात्र घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत इस भ्रमर की यह दुर्दशा हुई, और मैं पाँचों इंद्रियों के विषयों के जाल में उलझा हुआ हूँ। यदि अब भी अपना हित नहीं करूँगा, तो न जाने किस गति में जाकर पड़ूँगा। उनके चित्त में आत्मकल्याण की भावना प्रबल हो उठी, और उसी क्षण उन्होंने जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करने का दृढ संकल्प कर लिया।

महानुभाव! ज्ञान एवं श्रद्धान के बिना असंयम से विरक्त नहीं हुआ जा सकता तथा संयम विकसित नहीं हो सकता। असंयम को जन्म देने वाली विकारग्रस्त पाँचों इंद्रियाँ और चंचल मन–इनको श्रद्धापूर्ण कार्यों में लगाना तथा आत्मनियंत्रण की लगाम से नियंत्रित करना ही मन को संयम की दिशा में अग्रसर करने का राजमार्ग है।

महानुभाव! मन का स्वभाव तो चंचल होकर दौड़ते रहने का है, किंतु आत्मा का स्वभाव उसे मोड़कर सत्प्रवृत्तियों

में लगाना है। संयम एक तरह की लगाम है—जिस प्रकार लगाम से घोड़े को नियंत्रित किया जाता है, उसी प्रकार योगी पुरुष इस संयम-लगाम से मन और इंद्रियों को नियंत्रित करते हैं। संत कहते हैं—

एगे जिए जिआ पंच, पंच जिए जिआ दस।
दसहा उ जिणित्ता णं, सव्वसत्तू जिणामहं॥

एक मन को जीत लेने पर पाँचों इंद्रियाँ जीत ली जाती हैं, और पाँच इंद्रियों को जीतने पर चार कषाय भी जीतने में आ जाती हैं। पाँच इंद्रिय + मन + चार कषाय—ये दसों यदि जीत लिए जाएँ, तो समझो आत्मा के सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त हो गई।

अब आगे क्या करना चाहिए? आचार्य महोदय कहते हैं—**''स्वाध्याये नित्यमुद्यतः''** पाँच प्रकार के स्वाध्याय में निरंतर लगे रहना चाहिए। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश। इनमें आलस्य का त्याग करके ज्ञान की भावना रखना स्वाध्याय कहलाता है। श्रुत से संस्कारित मन क्रम से आत्मतेज के द्वारा आत्मतत्त्व को प्राप्त होता है। महानुभाव! स्वानुभूति श्रुत के संस्कार से युक्त मन से होती है। इसीलिए श्रुताभ्यास अत्यंत आवश्यक है। यह स्वाध्याय अज्ञान का विरोधी होने के कारण सभी तपों में श्रेष्ठ तप कहा गया है। धर्म संग्रह ग्रंथ में कहा गया है—

भावयुक्तोऽर्थतन्निष्ठः सदा सूत्रं तु यः पठेत्।
स महानिर्जरार्थाय कर्मणो वर्तते यति॥

जो मुनि अच्छे भाव से युक्त होकर, शास्त्र के अर्थ में तल्लीन होता हुआ शास्त्र को पढ़ता है, वह बहुत अधिक कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ होता है। इसीलिए यहाँ दूसरी बात कही गई—**'स्वाध्याय'**। स्वकीय हित के लिए, कर्मक्षय में उद्यत मुनि को निरंतर स्वाध्याय करना चाहिए। आचार्य भगवन् पद्मनंदि स्वामीजी ने पद्मनंदि पंचविंशतिका में कहा है कि—इस समय अर्थात् पंचमकाल में अल्पायुष्क और अल्पबुद्धि वाले मनुष्यों में समस्त शास्त्रों को पढ़ने की शक्ति कहाँ! अतः मुक्ति के कारणभूत आत्महितकारी शास्त्रों को प्रयत्नपूर्वक पढ़ लेना चाहिए। उस स्वाध्याय का फल संवेग कहा गया है। संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति ही स्वाध्याय के अभ्यास का फल है।

आचार्य भगवन् श्री सकलकीर्ति जी मुनिराज ने सार समुच्चय ग्रंथ में कहा है—जो व्यक्ति विनयपूर्वक, श्रद्धाभाव से जिनेंद्र वाणी को पढ़ता है, उसे उससे प्राप्त सम्यक्त्व और उसके अविनाभावी सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से उत्पन्न होने वाले समताभाव की प्राप्ति होती है। जो तत्त्वज्ञान रूपी समुद्र में अवगाहन करता है, उसकी आत्मा एक दिन नियम से पवित्र और पावन होती है। इसलिए उस स्वाध्याय को अवश्य करना चाहिए, जिसका फल समता है और परम्परा से केवलज्ञान एवं मोक्ष भी है।

महानुभाव! आगे कहा गया है—**'सञ्चिन्तयन-मनुप्रेक्षा'**। अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करना चाहिए। वचन से तो वाचना

कर रहा है। यदि समझ में नहीं आता तो पूछता है, पुनः चिन्तवन करता है। जो याद किया उसे कंठस्थ करता है—इससे भी मन स्थिर होता है। फिर कहा गया—निरंतर अनुप्रेक्षाओं के चिंतन में मन को लगाना चाहिए। अनित्यादि बारह भावनाओं का चिन्तन करते-करते, यदि एक बार भी मन उनमें गहराई से डूब जाए, तो आपके आसपास तोप के गोले भी छोड़े जा रहे हों या ढोल-नगाड़े बज रहे हों—जब मन चिंतन में डूब जाता है, तब बाहर की प्रतिकूलता प्रतिकूल प्रतीत नहीं होती।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महोदय ने कहा—'साधु एव जयति मनः' साधु मन को जीतने में समर्थ होता है। परंतु विजय एकाएक नहीं होती—उन्होंने इसका क्रम बताया है—पहले काय पर नियंत्रण, पुनः वचन पर नियंत्रण और अंत में मन पर नियंत्रण। यदि कोई व्यक्ति शरीर से हिंसादि कार्यों में प्रवृत्ति कर रहा है, तो वह मन को कभी नहीं जीत सकता। यदि वचन से परशु, सावद्य, निंद्य, कटु, अहितकारी और असत्य बोल रहा है तो उसके मन में विकल्प और अशांति उत्पन्न होती रहेगी—वह कभी मन को जीत नहीं सकता। और जो साधु अनित्यादि भावनाओं का चिंतन नहीं करता, वह न तो अपने मन को शुद्ध कर सकता है और न ही अपने आप को जीत सकता है।

इसलिए मन को शुद्ध करने के लिए बारह भावनाओं का चिंतन आवश्यक है। चाहे हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत या किसी भी भाषा में—इन भावनाओं को पढ़ें या समझें और

चिंतन करें। अनेक कवियों, महर्षियों, आचार्यों और संतों ने इन बारह भावनाओं का चिंतन किया है, और उसी चिंतन से उनकी आत्मा की विशुद्धि बढ़ी है। उन्होंने उन चिंतन के शब्दों को भव्यजीवों का हित करने के लिए लिपिबद्ध कर दिया। आप जब बारह भावनाओं का चिंतन करेंगे, तब आपको यथार्थ में लगेगा कि ये भावनाएँ ऐसी दृढ़ हैं कि एक बार मन इनमें लग गया, तो फिर अन्य बातों की चिंता नहीं रहती। जैसे–बच्चा खेल में लग जाए, तो उसे अन्य बातों की चिंता नहीं रहती। जैसे–विद्यार्थी पढ़ने में लग जाए तो भूख-प्यास का भी भान नहीं रहता। जब किसी साधक की लगन इन बारह भावनाओं में लग जाती है, तब वह अपने मन को जीत लेता है।

यह अनुप्रेक्षाएँ एक रस्सी के समान हैं। जिस प्रकार किसी पशु को बाँधने के लिए उसके गले में रस्सी डाली जाती है, वह फिर भी न माने तो नाक में नकेल डाल दी जाती है, और यदि तब भी वह चंचल होता है तो उसके दोनों पैरों को बाँध दिया जाता है, फिर भी वह न माने तो उसके गले में लकड़ी बांध देते हैं–जिससे चलते समय वह रुकने को विवश हो जाता है। उसी प्रकार–साधु अपने वचन और तन को नियंत्रित कर, मन को जीतने का उपक्रम करता है। गृहस्थों का मन तो पीपल के पत्ते की तरह चंचल होता है–थोड़ा-सा भी विकल्प आया तो रात भर नींद नहीं आती। इसलिए श्रावक को चाहिए कि वह अपने मन को

शुभ में लगाने का प्रयास करे और साधु मन को जीतने की कोशिश करे।

महानुभाव! साधु ही वास्तव में मन को जीतने में समर्थ होता है। वह ही इंद्रियों के विषयों में वैराग्य धारण कर, समस्त प्रकार की हिंसा का त्याग कर, तीनों योगों से आत्मधर्म में प्रवर्तमान होता है। वही सच्चा योगी कहलाता है। क्योंकि मन को नियंत्रित करना एक चुनौती के समान है। साधारण मनुष्य इसे सहज अपने वश में नहीं कर सकता। आचार्यों ने इस मन को अनेक उपमाएँ दीं—इंद्रिय रूपी घोड़ों को नियंत्रित करने के लिए मन का अनुशासन आवश्यक है, तभी वे घोड़े सही दिशा में, सही गति कर पाएँगे। किसी ने मन को चोर कहा, किसी ने ठग कहा, किसी ने नट कहा है।

यह मन अपने हिसाब से जीव को नचाता है, और अनादिकाल से यही करता आया है। जैसा मन कहता है, वैसा ही जीव करता चला जाता है। और आज तक संसार-सागर में गोते खा रहा है। अब इस मन को कलाकार बनाओ, और स्वयं इसके निर्देशक बनो। जैसा आप कहें वैसा ये मन करे—इसकी दिशा अपने हाथ में ले लो, तभी आपकी दशा बदल पाएगी।

आचार्यों ने इस मन को मदोन्मत्त हाथी की उपमा दी है। जिस प्रकार हाथी को वश में करना सरल नहीं, उसी प्रकार मन को नियंत्रित करना भी कठिन है। किन्तु ज्ञान रूपी

अंकुश से इस मन रूपी हाथी को भी वश में किया जा सकता है। किसी ने इस मन को बंदर भी कहा है–क्योंकि यह बंदर की भाँति अत्यंत चंचल है। इसे रमाने के लिए यदि श्रुत स्कंध रूपी वृक्ष मिल जाए तो यह इधर-उधर नहीं भटकेगा। जैसे बंदर को हरा-भरा वृक्ष मिल जाए, तो उसी पर एक डाली से दूसरी डाली पर खेलता रहता है, वैसे ही यदि मन को स्वाध्याय और अनुप्रेक्षाओं के चिंतन में रमाया जाए, तो यह मन नियंत्रित हो जाता है।

महानुभाव! इसीलिए आचार्यों ने कहा है–ऐसे चंचल मन को केवल साधु ही अपने चरणों का दास बना सकता है। गृहस्थ के वश की बात नहीं है। यद्यपि गृहस्थ भी प्रयास तो कर सकता है, परंतु पुरुषार्थ तो साधु का ही सफल हो पाता है। मन के नियंत्रण के लिए इन्द्रियानुशासन, स्वाध्याय में सतत उद्यमशीलता और मुहुर्मु अनित्यादि बारह भावनाओं का चिंतन करना बहुत आवश्यक है। क्योंकि यदि मन पर अधिकार हो गया, तो समझो सब कुछ प्राप्त हो गया। यदि मन रूपी मालिक कब्जे में हुआ तो समझो समस्त वैभव अपना हुआ अर्थात् समस्त आत्मगुणों का वैभव स्वयमेव अपने अधिकार में आ जाएगा अतः मन पर संयम अनिवार्य है।

मन पर नियंत्रण ही साधना की आधारशिला है। इसी कारण आचार्य भगवन् जससेन स्वामीजी ने कहा है कि प्रथम अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करो और द्वितीय स्वाध्याय में

नित्य उद्यमी रहो। इन दोनों की साधना में निरंतर लगे रहने वाला साधु पुरुष निश्चित रूप से मन को जीत लेता है और इंद्रिय-विषयों से पराङ्गमुख हो जाता है।

महानुभाव! यदि आप भी मन की माँगों को अस्वीकार करना सीख लें, तो समस्त समस्याओं का अंत हो सकता है। सम्यग्ज्ञान ही उस चित्त का प्रिय अतिथि है। क्षमा आदि गुणों में जो आसक्त है, वह साधु ही ऐसा महामना है जो निश्चित रूप से मन को जीतकर मुक्ति रूपी वधू को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है। आप भी अपने मन को जीतने का सम्यक् पुरुषार्थ करें। चित्त की विशुद्धि ही शुभ-अशुभ कर्मों के विनाश का कारण बनती है। उसी से अक्षय आनंद की प्राप्ति होती है। वह आनंद हमें और आप सभी को प्राप्त हो, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ...।

श्री शांतिनाथ भगवान की जय!

पंचमकाल में सत्य की पहचान

महानुभाव! वर्तमान काल में एक ऐसा "श्याम सितारा" अपने अंधकार को फैलाता जा रहा है जिसने अनेक व्यक्तियों की दृष्टि को दूषित कर दिया है। इस श्याम सितारे का नाम है–'एकान्तवाद'। वैसे तो प्रत्येक काल में ये श्याम सितारे अपना कार्य करते रहते हैं और आगे भी करते रहेंगे। इस पंचमकाल मे भी अनेक प्रकार के एकान्तवादी उत्पन्न हुए हैं।

एकान्तवादियों का कोई एक निश्चित या नियामक मत नहीं होता, उनके अनेक मत होते हैं। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि सम्यक् होती है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति किसी एक वस्तु को देखते हैं, तो उनका मत एक ही होता है–एक ही निष्कर्ष होता है। किन्तु मिथ्यादृष्टि किसी वस्तु को देखते हैं, तो उनके अनंत मत हो जाते हैं।

मोक्ष का स्वरूप एक ही है, इसलिए मोक्ष का मार्ग भी एक ही है। परंतु संसार के स्वरूप अनंत हैं, इसलिए संसार के मार्ग भी अनंत हैं।

यहाँ पर आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामीजी ने श्रावक और श्रमणों के लिए एक समन्वित शास्त्र की रचना की, जिसका नाम है 'रयणसार'। अर्थात् रत्नों का सार। यद्यपि रत्न को ही सार कहा जाता है किन्तु आचार्यों ने रत्नों का

भी सार निकालकर प्रस्तुत कर दिया। जैसे दूध को श्रेष्ठ माना जाता है और लोकव्यवहार में कहा जाता है 'दूधो नहाओ, पूतो फलो', किन्तु दूध का भी सार यदि कहा जाए तो वह घी है। सोने को भी श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु यदि सोने से भी उत्कृष्ट कुछ कहा जाए तो वह रत्न है, क्योंकि रत्न सोने में जड़ दिया जाता है।

आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामीजी ने श्रावकों के लिए रत्नों का पिटारा दिया, जिसका नाम रखा–'रत्नकरण्ड श्रावकाचार'। यदि श्रमणों के लिए ग्रंथ लिखते तो उसका नाम 'रत्नकरण्ड श्रमणाचार' भी रखा जा सकता था। किन्तु आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामीजी ने 'रयणसार' लिखकर श्रावक और श्रमण दोनों के लिए उपयोगी गाथाओं का निर्माण किया। प्रत्येक गाथा में इतना गूढ़ अर्थ भरा है कि पल्लवग्राही (सतही) ज्ञान रखने वाले व्यक्ति उसकी गहराई तक पहुँच नहीं पाते। प्रारंभिक तैराक उस गहराई को माप नहीं पाते; वे तो उथले पानी में ही तैरते हैं। यूँ कहें कि अल्पबुद्धि वाले व्यक्ति जुगनू, मक्खी, मच्छर की भाँति इधर-उधर रहते हैं, या पक्षी की तरह थोड़ा बहुत ही आगे बढ़ पाते हैं। परंतु जो वायुयान की गति से चलते हैं या विद्याधरों की तीव्र गति रखते हैं, अथवा ऋद्धिधारी मुनियों के समान जिनमें आकाशगमन की शक्ति होती है–उनकी शक्ति की समानता भला मक्खी, मच्छर, बर्रे, ततैया, तितली के पास कहाँ? वह शक्ति एक सामान्य पक्षी के बच्चों के पास कहाँ? इसी प्रकार जो व्यक्ति वास्तव में गूढ़ ज्ञान से

रहित हैं, जो धर्म के मर्म को नहीं जानते और कर्म के आस्रव-बंध के रहस्य से अनभिज्ञ हैं—वे मिथ्याआलाप, मिथ्याउपदेश, मिथ्याशिक्षा और कुसंस्कारों का संवर्धन करके अपना यश फैलाते हैं, और ऐसा मानते हैं कि मैं बहुत बड़ा हो गया। अन्धों में काना राजा फिर भी ठीक है, किन्तु ये तो अन्धों में महाअन्धे हैं।

एक Eye specialist (नेत्र विशेषज्ञ) डॉक्टर के पास एक रोगी पहुँचा। वह केबिन में गया तो उसे दो दरवाजे नजर आए, दोनों पर लिखा था—"आँखों का डॉक्टर"। वह सोचने लगा—मैं इस दरवाजे से जाऊँ या उस दरवाजे से? तभी उसे याद आया, अरे! यही तो मेरी बीमारी है, मुझे एक के दो दिखाई देते हैं। चलो, किसी भी दरवाजे से जाऊँ। दरवाजा तो एक ही है, मुझे दो दिखाई दे रहे हैं।

वह डॉक्टर के पास पहुँचा, फिर सोच में पड़ गया—मैं इस डॉक्टर से पूछूँ या उस डॉक्टर से? फिर अपने आप को सम्हालता है—डॉक्टर तो एक ही है, मुझे एक के दो दिखाई दे रहे हैं। उसने डॉक्टर से कहा—"डॉक्टर साहब, हमें एक समस्या है।" डॉक्टर ने पूछा—"क्या समस्या है?" उसने कहा—डॉक्टर साहब, हमें एक के दो दिखाई देते हैं।" डॉक्टर ने पूछा—"क्या आप चारों को एक ही रोग है"? वह व्यक्ति पीछे मुड़कर देखने लगा। "मैं तो अकेला ही यहाँ हूँ!" अरे! जिस डॉक्टर को एक के चार दिखाई देते हों वो मेरा उपचार कैसे करेगा?

महानुभाव! जो व्यक्ति अज्ञानवश, मिथ्यात्ववश, असंयम, अचारित्र, कुसंस्कार वश अपने अहंकार की पुष्टि करने के लिए छल-कपट और लोभ के वश होकर भोली जनता को ठगने के लिए नाना प्रकार की युक्तियाँ, निर्देश, उपदेश और उदाहरण प्रस्तुत करता है—वह वास्तव में अपनी एक टीम बनाना चाहता है, अपने फोलोअर्स तैयार करना चाहता है, जिससे उसकी आजीविका चलती रहे।

खुद डूबे पाहुने ले डूबे यजमान।
ऐसे खोटे व्यक्ति से आप रहो सावधान॥

ऐसे व्यक्तियों से बचने के लिए आचार्य महाराज ने कहा है—पहले जैनधर्म के मर्म को समझो। जैनधर्म में तीन वस्तुएँ मुख्य हैं—वीतरागी सर्वज्ञ 'जिनेन्द्रदेव', जिनेन्द्र भगवान की वाणी 'जिनवाणी' और उनके मार्ग पर चलने वाले निर्ग्रंथ 'गुरु'। ये तीनों ही रत्न हैं, और ये तीनों ही तीन रत्नों के कर्ता हैं। आप पढते भी हैं—

देव-शास्त्र-गुरु रतन शुभ, तीन रतन करतार।
भिन्न-भिन्न कहूँ आरती, अल्प सुगुण विस्तार॥

मैं अल्पबुद्धि से उनके गुणों को कहता हूँ। ये तीनों ही तीन रत्नों को देने वाले हैं—जिनेन्द्रप्रभु सम्यग्दर्शन को देने में कारण हैं, जिनवाणी सम्यग्ज्ञान की कारण है और निर्ग्रंथ गुरु सम्यक्चारित्र को देने वाले हैं। यद्यपि ये तीनों एक-दूसरे के भी कारण हैं, तथापि यहाँ किन्तु मुख्यरूप से उनका वर्णन किया गया है।

जिस व्यक्ति को धर्म के क्षेत्र में व्यापार करना है, वह धर्म के ईश्वर की निंदा करेगा। वह कहेगा, ''भगवान तो होते ही नहीं हैं, ये तो पत्थर या धातु की मूर्तियाँ हैं। यह सब पागलपन है। क्यों करते हो यह पूजा-पाठ? क्या होता है इससे? यह तो केवल पुद्गल की क्रिया है, क्या होता है अभिषेक करने से?'' वह ऐसी बातें कहकर हर व्यक्ति को भगवान से दूर करता है। फिर कहेगा– ''जिनवाणी में लिखा ही क्या है? सब झूठ है। अरे! प्रथमानुयोग में कहानी-किस्से हैं, क्या रखा है उनमें? चरणानुयोग में क्रिया-काण्ड है, करणानुयोग में माथा-पच्ची है। इस प्रकार तीनों अनुयोगों को धीरे-धीरे कट कर दिया। द्रव्यानुयोग में भी ये कहते हैं–''यह ग्रंथ उन आचार्य का है, वे ऐसे थे, ये भट्टारकों का है''–और मनगढंत बातों को कह-कहकर लोगों के हाथों में पकड़ा दिया समयसार। उसमें भी 2-4 गाथाएँ पकड़कर बाकी छोड़ दिया और अपनी व्याख्या आरंभ कर दी। इस प्रकार एकान्तवाद का जहर मिला दिया। जिनवाणी हमारी माँ है; माँ के आँचल में यदि कोई जहर का इंजेक्शन लगाए, तो हम सहन नहीं कर सकते। जो कोई भी जिनवाणी को दूषित कर रहा है, उससे सावधान रहना आवश्यक है।

और तीसरी बात–हमारे निर्ग्रंथ गुरु। ''भगवान तो बोलते नहीं, जिनवाणी भी बोलती नहीं; आप चाहे भगवान की भक्ति-पूजा-पाठ कैसे भी करो, वे कुछ नहीं कहते;

जिनवाणी का अर्थ कुछ भी निकालो वह भी कुछ नहीं कहती; किन्तु निर्ग्रंथ गुरु जीवंत हैं। वे चलते-फिरते तीर्थ हैं। वे आपको उपदेश भी देते हैं, प्रायश्चित्त भी दे सकते हैं, डाँट भी सकते हैं और समझा भी सकते हैं—लाड़-प्यार से, दुलार-वात्सल्य से, स्नेह के साथ।

जिस प्रकार माता-पिता अपने बालक को समझाते हैं, उसी प्रकार गुरु भी अपने शिष्य और भक्तों को मार्गदर्शन देते हैं। जब करुणा तीव्र होती है, तब गुरु अपने शिष्य व भक्तों को डाँटते भी हैं; और जब वात्सल्य उमड़ता है, तब उसी प्रेम से समझाते हैं। जैसे माँ अपने बच्चों को कभी खींचकर डाँटती है और कभी प्रेम से समझाती है—वैसे ही गुरु भी कभी कठोरता और कभी कोमलता से शिष्य का हित करते हैं।

आचार्य अपराजित सूरी जी ने आचार्य शिवकोटी महाराज के ग्रंथ भगवती आराधना की टीका में लिखा है—"यदि साधु गलती कर रहा हो, तो आचार्य महाराज 'पादेन प्रहारता' अर्थात्, पैर से आघात करके भी उसे समझा सकते हैं।" यहाँ आचार्य भगवन् कुंदकुंद स्वामी जी रयणसार ग्रंथ की 56वीं गाथा में सावधान करते हुए कहते हैं कि वर्तमानकाल में जो मिथ्यात्व के पोषक हैं, वे जिनशासन की आड़ लेकर, जिनशासन का नाम और छत्र धारण करके अपनी मनमानी कर रहे हैं। जिससे व्यक्ति जिनशासन का नाम सुनकर उनके पास चला जाता है और वे अपना मंत्र

उसे सिखा देते हैं। अतः यहाँ उनसे सावधान रहने की बात कही गई है।

वे गुरुओं के संबंध में कहते हैं–"यह पंचमकाल है, यहाँ निर्ग्रंथ गुरु नहीं होते; भावलिंगी साधु नहीं होते, ऋद्धिधारी मुनि नहीं होते; प्रत्यक्षज्ञानी नहीं होते; यहाँ साधु ही नहीं होते।" वे ऐसा इसलिए कहते हैं ताकि सच्चे गुरुओं का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया जाए। क्योंकि यदि सच्चे गुरु का पत्ता साफ नहीं करेंगे, तो खुद की गद्दी कैसे जमेगी। इसी कारण आज के कुछ व्यक्तियों ने, पूर्व पापकर्म के उदय से बुद्धिभ्रष्ट हो जाने से, अधम और भ्रष्ट व्यक्तियों की फौज बनाना शुरू किया है। ऐसी स्थिति में आचार्य बड़ी करुणा बुद्धि से कह रहे हैं–"हे भोले प्राणियों! कहाँ जा रहे हो? कहाँ भटक रहे हो?" आचार्य भगवन् कुंदकुंद स्वामी कितनी तीव्र करुणा के साथ रयणसार ग्रंथ में समझाते हुए कह रहे हैं–

अज्जवसप्पिणि भरहे, धम्मज्झाणं पमाद-रहिदो त्ति।
होदि त्ति जिणुद्दिट्ठं, ण हु मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी।।56।।

महानुभाव! जिन्होंने यह कहा कि पंचमकाल में भगवान नहीं हैं, जिनवाणी नहीं है और गुरु नहीं हैं–उनके लिए आचार्य महोदय स्पष्ट कहते हैं कि भगवान हैं। समवसरण में विराजित साक्षात् तीर्थंकर भगवान की पूजा-भक्ति जिन चक्रवर्ती आदि महापुरुषों ने की, उन्होंने उससे जो पुण्यफल प्राप्त किया, वही पुण्यफल आज जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा

की पूजा-भक्ति से भी प्राप्त होता है—ऐसा सोमदेव आचार्य ने लिखा है।

समवसरण में जिनवचनों को सुनने से आत्महित होता था, उतना ही आत्महित आज जिनवाणी के केवल दो शब्द सुन लेने मात्र से भी हो सकता है। अशुभ से निवृत्ति, शुभ में प्रवृत्ति, मिथ्यात्व का गलन, सम्यग्ज्ञान की वृद्धि, असंयम का परित्याग और संयम में प्रवेश—ये सब जिनवाणी के थोड़े से श्रवण से भी संभव है। ऐसा नहीं है कि पूरा द्वादशांग ही हो, तभी उसे जिनवाणी कहा जाए। जिनवाणी का एक शब्द भी कल्याण करने में समर्थ होता है।

जैसे गंगा नदी पूर्ण रूप से गंगाजल है, वैसे ही यदि उस गंगा की कुछ बूँदें भी कोई ले आए तो क्या वह गंगाजल नहीं कहलाएगा। जैसे सोने का पहाड़ ही सोना नहीं होता, रत्तीभर सोना भी सोना ही होता है। जैसे दूध की एक बूँद भी दूध कहलाती है और घी की एक बूँद भी घी कहलाती है—उसी प्रकार जिनवाणी का एक शब्द भी जिनवाणी स्वीकार्य है। किन्तु एक शर्त है—उसमें कोई मिलावट न हो। जैसे सोने में मिलावट स्वीकार्य नहीं है, गंगाजल में मिलावट नहीं, घृत और दूध में मिलावट नहीं। मिलावट वाला बहुत सारा भी होगा तब भी त्याज्य है, ग्रहण योग्य नहीं है—वैसे ही जिनवाणी में भी मिलावट नहीं होनी चाहिए। इसीलिए आचार्य महोदय स्पष्ट कह रहे हैं कि भाई! पंचमकाल में देव भी हैं, शास्त्र भी हैं और गुरु भी हैं।

'अज्जवसप्पिणि भरहे' आज भी यह अवसर्पिणी काल है। उत्सर्पिणी काल तो निकल चुका है, अब अवसर्पिणी काल का 'दुषमा' नामक पंचमकाल चल रहा है। आज इस अवसर्पिणी काल में, भरत क्षेत्र में, **''धम्मज्झाणं पमाद-रहिदो त्ति''** धर्मध्यान प्रमाद से रहित होता है। किनके होता है? साधुओं के होता है। प्रमाद से रहित कौन होता है? श्रावक हो सकता है क्या? श्रावक नहीं हो सकता।

श्रावक तो अधिक से अधिक देशव्रती हो सकता है, और प्रमादरहित सप्तम गुणस्थान की प्राप्ति कौन करता है? जो प्रमादी-अप्रमादी गुणस्थान में रह रहा है, छटवें-सातवें गुणस्थान में झूला झूल रहा है—ऐसा साधु। आज पंचमकाल में, भरत क्षेत्र में प्रमाद रहित धर्मध्यान साधु के होता है। इस बात को आचार्य महोदय बड़ी निष्ठा के साथ, दृढ़ता के साथ, श्रद्धा के साथ कह रहे हैं।

महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी जी कितने पापभीरू हैं, उन्होंने ऐसा नहीं कहा कि मैं कह रहा हूँ, बल्कि कहा—**'होदित्ति जिणुद्दिट्ठं'** अर्थात् ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि पंचमकाल के अंत तक भी साधु रहेंगे।

महानुभाव! पंचमकाल के अंतिम दिन जब अग्नि का लोप हो जाएगा, जल का भी लोप हो जाएगा—तब भी, उस अंतिम समय तक भी चतुर्विध संघ रहेगा। अतः पंचमकाल में भी भावलिंगी मुनि होते हैं और आगे भी होते रहेंगे। हाँ,

हमारी दृष्टि खराब हो तो एक बात अलग है। जैसे–सफेद दीवार को यदि कोई काला चश्मा लगाकर देखे, तो वह काली ही दिखाई देगी। नीला चश्मा पहन ले तो नीली दिखेगी, लाल चश्मा पहन ले तो लाल–वास्तव में दीवार का रंग वही है, परन्तु देखने वाले की दृष्टि बदल गई है।

इसी प्रकार आज भी कुछ मिथ्यादृष्टि, एकांतवादी, अज्ञानी लोग जो अपनी विकृत दृष्टि से भोली जनता को भटका रहे हैं। इसलिए उनसे सावधान रहने की आवश्यकता है। वे मिथ्यात्व का पुट मिलाकर जिनवाणी आपको परोसना चाह रहे हैं। परिणामस्वरूप व्यक्ति का सम्यग्दर्शन विचलित हो जाता है। यदि उनके भ्रम का प्रभाव आपके ऊपर पड़ गया, तो फिर न जाने कितने जन्मों तक उसका परिणाम भुगतना पड़ सकता है, इसलिए अत्यन्त सावधानी आवश्यक है।

आचार्य कुंदकुंद स्वामीजी कह रहे हैं– ''यह बात मैं अपनी ओर से नहीं कह रहा, बल्कि स्वयं जिनेन्द्र भगवान ने कही है। यदि आपको जिनेन्द्र प्रभु पर विश्वास है, तो उनकी वाणी को स्वीकार करना होगा। वे कह रहे हैं कि इस अवसर्पिणी काल के पंचमकाल में भरतक्षेत्र में भावलिंगि मुनि–अर्थात् अप्रमादी मुनि, सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनि विद्यमान होते हैं। उन्होंने इस बात को दृढ़ता से कहा है कि मैं नहीं कहा रहा, यह जिनेन्द्र भगवान का कथन है। जो व्यक्ति इस बात को नहीं मानता है, वह कुदृष्टि है,

मिथ्यादृष्टि है और अज्ञान से युक्त है। भगवान की वाणी को न माने तो सम्यक् दृष्टि कैसे प्राप्त हो सकती है?

सम्यग्दृष्टि तो वह होता है जो देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धा रखे, जो जिनवाणी के एक-एक अक्षर पर विश्वास करे। जो जिनेन्द्र भगवान की वीतरागी मुद्रा को–चाहे वह पाषाण की हो, सोने-चाँदी की हो, रत्नों की हो, धातु की हो, लकड़ी की हो या चूने की–वीतरागी मुद्रा को देखकर श्रद्धा से प्रणाम करे। जिसका सिर श्रद्धा से झुक जाए, जो दर्शन कर अपना अहोभाग्य माने, जो स्वयं को कृत्यकृत्य अनुभव करे–उसकी विशुद्धि बढ़ती जाती है। अतः आचार्य महोदय कहते हैं–जो व्यक्ति वीतराग मुद्रा को नहीं मानता, वह खोटी दृष्टि वाला है। खोट उसकी दृष्टि में है, साधु में नहीं, उसकी दृष्टि में खोट है जिनवाणी में नहीं, भगवान में नहीं।

ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने स्पष्ट कहा कि जो पंचमकाल में भावलिंगी मुनियों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, वीतरागी भगवान को स्वीकार नहीं करते, जिनवाणी को स्वीकार नहीं करते–वे मिथ्यादृष्टि हैं, अज्ञानी हैं। यदि मिथ्यादृष्टि मंद कषायी हो, तो वह आगे चलकर सम्यग्दृष्टि बन सकता है। किन्तु जो कुदृष्टि है–जिसकी दृष्टि खोटी है–अपने आपको सम्यग्दृष्टि दिखाना चाहता है, किंतु वास्तव में वह अत्यंत खतरनाक है। जैसे–पुराना नोट थोड़ा फटा-पुराना हो, सड़ा-गला हो, चल जाता है, किन्तु नकली

नोट कभी नहीं चलता। इसी प्रकार पुराना सिक्का चल सकता है, परंतु खोटा (नकली) सिक्का नहीं चलता। यहाँ पर असल की नकल तो चलती है, किन्तु नकली नहीं चलता। यहाँ तक कि न्यायालय में भी यदि किसी मूल दस्तावेज की फोटोस्टेट प्रति पर हस्ताक्षर कर दिए जाएँ, तो वह स्वीकार हो सकती है, किन्तु पूर्णतः नकली प्रति नहीं चलती। इस प्रकार जैनदर्शन में—यदि हम जिनेंद्र भगवान के स्वरूप का अनुकरण करें, तो वह स्वीकार्य है, किंतु नकली अरिहंत भगवान, नकली गुरु कभी स्वीकार्य नहीं होते। यदि कोई व्यक्ति सब कुछ नकली ही स्वीकार कर लेता है, तो वह स्वयं भी नकली है। और नकली से कभी कल्याण नहीं हो सकता। ऐसा आचार्य महोदय का गूढ़ भाव है।

श्री शांतिनाथ भगवान की जय!

जीवनः अवसर या प्रमाद?

महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री अमितगति स्वामीजी ने 'मरण कण्डिका' ग्रंथ में सल्लेखना और समाधि की विधि को अत्यंत सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ अपने आपमें अत्यंत पठनीय है। इस ग्रंथ का स्वाध्याय चाहे निष्णात प्रज्ञा का धनी विद्वान करे या अल्पज्ञानी–दोनों ही इसके अध्ययन करने में समर्थ हैं। वैराग्य का संपोषक यह ग्रन्थ अपने आप में अनुपम है।

यह ग्रंथ चारित्र में दृढ़ता प्रदान करके वाला, सम्यक्त्व को निर्मल बनाने वाला, ज्ञान की वृद्धि करने वाला, वैराग्य का जनक तथा तप की अभिवृद्धि करने वाला एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसका स्वाध्याय करने से संयमी-वैरागी के भाव विशुद्ध होते हैं, चित्त एकाग्र होता है, और ध्यान की स्थिरता बनती है। शुभध्यान कर्मनिर्जरा का साक्षात् हेतु है।

यहाँ पर आचार्य महोदय ने मनुष्य जन्म की दुर्लभता के साथ-साथ अन्य वस्तुओं को भी दुर्लभ बताया है। क्योंकि मनुष्य पर्याय अनेक जीव प्राप्त करते हैं, किन्तु उस मनुष्य पर्याय के साथ यदि आत्महित में कारणभूत अन्य विशेषताएँ प्राप्त न हों, तो मनुष्य अवस्था प्राप्त करके भी वह जीव आत्महित करने में समर्थ नहीं हो पाता।

आचार्य भगवन् अमितगति स्वामीजी ने 1961 नंबर की कारिका में मनुष्य जन्म की दुर्लभता के साथ-साथ

अन्य दुर्लभताओं को भी लिपिबद्ध किया है, उन्हें जानना आवश्यक है। उनके ही शब्दों में देखते हैं–

देशो जातिः कुलं रूपमायुर्निरोगता मतिः।
श्रवणं ग्रहणं श्रद्धा, नृत्वे सत्यपि दुर्लभम्॥1961॥ (म.कं)

आचार्य महोदय कहते हैं 'नृत्वे' 'नृ' कहिए तो मनुष्य, नृ से नर होता है। यद्यपि 'नर' शब्द की सार्थक संज्ञा है कि जो रति का नाश कर सके। क्योंकि मनुष्य के अलावा अन्य कोई भी जीव राग-भाव को नष्ट करने में समर्थ नहीं है। जहाँ राग नष्ट होता है, वहाँ द्वेष भी नष्ट हो जाता है।

मनुष्य ही राग-द्वेष का उपशम करने में समर्थ है, मनुष्य ही उन्हें पूर्णतः नष्ट करने में समर्थ है, और मनुष्य ही अन्य कर्मों का क्षय करने में समर्थ है। नर, मनुज, मनुष्य, पुरुष, मानव–ये सभी शब्द अपने-अपने विशेष अर्थ को ध्वनित करते हुए अपने शब्द को सार्थक संज्ञा प्रदान करते हैं।

मनुज–अर्थात् 'मनु' की संतान। 'मनु' कुलकर को कहते हैं। कुलकरों की संतान होने से यह मनुज कहलाता है। कुलकर वे होते हैं जो तत्कालीन प्रजा की समस्याओं का समाधान करते हैं। वे प्रजा के मार्गदर्शक, नायक, पालक और संरक्षक होते हैं। 'मनुष्य'–वह जिसमें मनुष्यत्व हो, मनुजपना हो। 'मानव'–वह जो मान का वमन करने में समर्थ है, क्योंकि मान-कषाय सबसे अधिक मनुष्य गति में ही पायी जाती है, अन्य तीन गतियों में इतनी नहीं पायी जाती। यदि मनुष्य केवल अपनी मान-कषाय को जीत

ले, तो शेष तीनों कषाय भी सहजता में उसके वश में हो जाएँगी। परंतु यदि वह मान-कषाय को जीतने में असमर्थ रहता है, तो तीनों कषाय उसी पर हावी हो जाती हैं।

जब मान-कषाय का पोषण होता है, तो मान बढ़ता है। और जब मान–कषाय का खण्डन होता है, तो क्रोध की अग्नि जलने लगती है। यदि मान कषाय की सहजता में पुष्टि नहीं होती तो मायाचारी आकर उसकी सहायता कर देती है, और बिना लोभ के मान कषाय का भाव हृदय में उत्पन्न भी नहीं होता। इस प्रकार मान, लोभ को बढ़ाता है और चारों कषायों को पोषण देता है। मानकषाय तीनों कषायों के लिए प्राणवायु के समान है, माया–कषाय तीनों कषायों के लिए सूर्य के प्रकाश की भाँति है, जो उन्हें सक्रिय बनाती है, और क्रोध जठराग्नि की तरह चारों कषायों की शक्ति को प्रबल करता है।

महानुभाव! यहाँ बता रहे हैं कि–यदि मनुष्य अवस्था प्राप्त करके भी श्रेष्ठ कार्य नहीं करता है, चार पुरुषार्थों का पालन नहीं करता, तो वह मनुष्य अवस्था प्रशंसनीय नहीं कही जा सकती। केवल मनुष्य जन्म मिल जाना ही पर्याप्त नहीं है। यदि मनुष्य अवस्था प्राप्त करके भी लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य बने तो क्या कल्याण कर पाओगे? मनुष्य अवस्था तो प्राप्त की किन्तु कुभोगभूमि के मनुष्य बनकर रह गए, तो क्या कल्याण कर पाओगे? मनुष्य अवस्था तो प्राप्त की किन्तु तीन पल्य तक भोगभूमि के भोग भोगते रहे और बाद

में देव अवस्था को प्राप्त हो गए। मनुष्य अवस्था तो प्राप्त की, किन्तु मनुष्य अवस्था को प्राप्त करके भी उत्तम देश, या उत्तम कुल और उत्तम जाति नहीं मिली, तो फिर वह क्या कल्याण कर सकेगा?

मनुष्य अवस्था प्राप्त करके पंचेन्द्रिय और मनुष्य तो बन गया, फिर भी कल्याण शब्द उसके कर्णगोचर नहीं हुआ। कल्याण के विषय में विचार करने की बुद्धि पैदा नहीं हुई, न ही आत्महित की भावना उसके हृदय में जागृत हुई। क्योंकि उसका जीवन कभी केवल पेट भरने तक सीमित रहा कभी प्रजनन तक सीमित रहा, कभी पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करने में, आसक्ति में, कभी पैसा कमाने में और कभी संतान को श्री युक्त बनाने की अभिलाषा में ही बीतता रहा। कोल्हू को बैल की तरह घूमता रहा, इसलिए आत्महित करने में असमर्थ ही रह गया। आचार्य महोदय ने मनुष्य जन्म की दुर्लभता के साथ-साथ कुछ और बातें भी अत्यंत दुर्लभ बताई हैं, उनका ज्ञान होना भी आवश्यक है।

पहली दुर्लभता है–**'देश'** उत्तम देश की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है। यदि किसी ऐसे देश में जन्म हो–जहाँ केवल माँसाहार ही प्रचलित हो, जहाँ हिंसा का ताण्डव नृत्य चलता हो, जहाँ खून की होली खेली जाती हो, जहाँ पर जीव वध को मनोरंजन का साधन माना जाता हो और जहाँ जितना ज्यादा जीववध किया जाए, उतनी ज्यादा श्रेष्ठता-प्रतिष्ठा मिलती हो, तो ऐसे देश में जन्म लेकर कौन व्यक्ति अपना हित करने में समर्थ हो सकता है।

वास्तव में उत्तम देश वह कहलाता है–जहाँ उत्तम-जनों का वास हो, जहाँ श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट बुद्धि के धारक और पुण्यकार्य में रत प्राणी निवास करते हों, जहाँ एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों के करुणा और संवेदनशीलता का भाव हो। वही उत्तम देश कहलाता है। और जहाँ पर स्व-पर के घात के परिणाम होते हैं, वह निकृष्ट, जघन्य देश कहा जाता है। मनुष्य बनकर भी उत्तम देश की प्राप्ति नहीं हुई, तो मनुष्य अवस्था निरर्थक हो गयी और कई बार तो अनर्थकारी भी बन जाती है।

आचार्य महोदय आगे कहते हैं अब दूसरी दुर्लभता **'जाति'**। जाति का अर्थ है–वर्ग विशेष। एकेन्द्रिय का वर्ग एकेन्द्रिय जाति, दो इन्द्रिय का वर्ग दो इंद्रिय जाति, तीन इंद्रिय का वर्ग तीन इंद्रिय जाति, चतुरिंद्रिय का वर्ग चतुरिंद्रिय जाति और पंचेन्द्रिय का वर्ग पंचेन्द्रिय जाति। यहाँ **'जाति'** शब्द का आशय मातृपक्ष (माँ के वंश) से लिया गया है। माँ का कुल जैसा होता है, उसी प्रकार के संस्कार संतान को प्राप्त होते हैं।

माता के शरीर में विद्यमान धातु-उपधातुओं के माध्यम से संतान का शरीर बनता है, और वे धातु-उपधातु माता के संस्कारों से समन्वित होती हैं। जिस प्रकार दूध में घृत रहता है, जल में शीतलता, अग्नि में ऊष्णता और मिठाई में मिठास रहती है। उसी प्रकार माता-पिता की धातु-उपधातुओं में उनके संस्कार विद्यमान रहते हैं। इसी कारण सबसे ज्यादा

संस्कार संतान के जीवन में मुख्यतः प्रकट होते हैं तो वे माँ के वंश से जुड़े होते हैं। इसलिए माँ के वंश को जाति कहा गया है।

नाना-नानी के संस्कार भी उसी परंपरा में आते हैं, और कहा जाता है कि ये संस्कार सात पीढ़ियों तक प्रभाव डालते हैं। अर्थात् संतान के जीवन में जो संस्कार प्रकट होते हैं, वे केवल वर्तमान नहीं, बल्कि पूर्वजों की परंपरा का परिणाम होते हैं। अतः उत्तम जाति की प्राप्ति भी पुण्य का ही परिणाम है। हर व्यक्ति को उत्तम जाति प्राप्त नहीं होती। जैसे प्रत्येक संतान को तीर्थंकर जैसी माँ नहीं मिलती, वैसे ही उत्तम माँ की प्राप्ति भी महान पुण्य का फल है।

अगली दुर्लभता है **'कुल'**। पितृवंश को कुल कहते हैं। पिता का वंश, उनके संस्कार और पितामह आदि पूर्वजों के संस्कार, जो परम्परा से चले आ रहे हैं, वही कुल कहलाता है। इस कुल में जो श्रेष्ठ संस्कार प्राप्त होते हैं, वे भी पुण्य का ही फल है। क्योंकि उत्तम कुल में उत्पन्न मनुष्यों में कदाचार प्रायः दुर्लभ होता है, और जो पुरुष नीच कुल में उत्पन्न होते हैं, उनमें मोक्षानुकूल आचार का होना कठिन होता है।

आचार्य कहते हैं–**"सम्मणाण-दंसण-वेरग्ग-संजम-तवा य उच्चकुल-फलाणि"** सम्यग्ज्ञान, दर्शन, वैराग्य, संयम और तप–ये सब उच्चकुल के फल हैं। कहा भी गया है–जैसा कुल, वैसी वृत्ति (प्रवृत्ति)। यदि कोई जीव मनुष्य

जन्म को प्राप्त करके भी मर्यादा का उल्लंघन करता है, तो सुकुल में जन्म लेने पर भी वह कुल भी कुकुल (निकृष्ट) बन जाता है। ऐसे कदाचारियों के कारण सुकुल का महत्व ही खत्म हो जाता है। इसीलिए मनुष्य को चाहिए कि वह सदाचार के द्वारा अपने कुल की मर्यादा की रक्षा करे।

जब सर्प, चातक, पाषाण, सागर, बादल आदि भी स्वकुल मर्यादा नहीं त्यागते तो मनुष्य द्वारा अपने कुल की मर्यादा का त्याग करना कितना अनुचित है! जो व्यक्ति उस सुकुल मर्यादा, सदाचार और धर्म को नष्ट कर देता है, वह स्वयं अपने ही उत्तम कुल को नष्ट कर देता है। उत्तम कुल की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है, और उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है–उसकी मर्यादा की रक्षा करना। **'गुण-पसंसाए उच्चकुलं'** गुणों की प्रशंसा करने से और अपने दोषों की आलोचना करने से उच्च कुल की प्राप्ति होती है। जिस कुल में जन्म लेकर जीव जैनेश्वरी दीक्षा को अंगीकार कर अपने कल्याण का मार्ग चुनता है, उसमें आगे बढ़ता है और अंततः मोक्ष को प्राप्त करता है।

अब विचार करें–यदि उत्तम देश, उत्तम जाति और उत्तम कुल मिल जाए किन्तु शरीर (रूप) उत्तम न हो, अर्थात् शरीर विकलांग हो, हीनाधिक अंग-उपांग हो, तो भी वह जीव अपना आत्म हित करने में समर्थ नहीं हो पाता, संयम को स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिए पूर्ण और स्वस्थ शरीर की प्राप्ति भी पुण्य का फल है और यह भी अत्यंत दुर्लभ है।

इसके उपरांत कहा–**'दीर्घ आयु'** यदि देश, जाति, कुल और शरीर सब उत्तम हों, परंतु आयु अल्प हो तो? यदि गर्भ में ही मृत्यु हो जाए तो कल्याण कैसे होगा? जन्म के तुरंत बाद मृत्यु हो जाए, तो कल्याण कैसे होगा? 8 वर्ष की आयु से पहले तो सम्यक्त्व भी प्राप्त नहीं हो सकता। यदि 8 वर्ष की आयु से पहले ही मृत्य हो गई, तो आत्मकल्याण का अवसर ही नहीं मिलेगा। और यदि आयु अधिक भी हो गई तो क्या निश्चित है कि कल्याण हो जाएगा, केवल उम्र बढ़ने से क्या होगा? यदि बाल बुद्धि नहीं गई तो, मिथ्याबुद्धि नहीं गई तो? इसलिए कहा गया–दीर्घ आयु की प्राप्ति होना भी दुर्लभ है।

''जीवण-मूलं आऊ'' जीवन का मूल आयु है। वह आयु रूपी शाखा काँटों और फूलों से युक्त होती है। अर्थात् जीवन में सुख-दुःख दोनों आते हैं, और आयु की शाखा कटने के भी अनेक कारण होते हैं–दुर्घटना से मृत्यु, जल से मृत्यु, अग्नि से मृत्यु हो गई। इसलिए दीर्घायु की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है, हर जीव इसे प्राप्त नहीं कर पाता।

महानुभाव! आगे कहा–**'निरोगता'** यदि दीर्घ आयु मिल भी जाए, किन्तु शरीर बचपन से ही रोगग्रस्त है। रोग किसी भी प्रकार का हो सकता है। आँखों से कम दिखाई दे। कानों से कम सुनाई दे, शरीर में कैंसर जैसे रोग, किडनी, हृदय या आँतें कमजोर हैं, पाचन शक्ति न हो, एक रोग को ठीक करने का प्रयास करो तो चार नए रोग पैदा हो जाते

हैं। ऐसी स्थिति में जीव अपना कल्याण कैसे करे? मनुष्य बनकर भी निरोगता की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है।

आगे कहा–**'मति'** यदि शरीर निरोग प्राप्त हो भी जाए, तो भी शुद्ध मति (समीचीन बुद्धि) की प्राप्ति और भी दुर्लभ है। क्योंकि सामान्यतः बुद्धि विषयों में लगी रहती है, कषायों के पोषण में लगी रहती है, पाप में प्रवृत्त होती रहती है। आठों याम बुद्धि खोटा चिंतन करती रहती है। हिंसानंदी रौद्रध्यान, मृषानंदी रौद्रध्यान, विषयसंरक्षणानंदी रौद्रध्यान, चौर्यानंदी रौद्रध्यान आदि में जीव आनंद का अनुभव करता रहता है। ऐसी स्थिति में न तो उसे स्वाध्याय करने की इच्छा होती है, न उपदेश सुनने की प्रवृत्ति होती है, न धर्मकार्य में रुचि होती है, न गुरुजनों के पास जाने का भाव होता है और न माता-पिता की बात सुहाती है। जिसने जीवन में कभी स्वाध्याय नहीं किया, जिसका मन जिनेन्द्रप्रभु की वाणी सुनने में नहीं लगता–वह आत्महित में प्रवृत्ति कैसे कर पाएगा। अतः स्पष्ट है जिसकी मति शुद्ध नहीं, उसकी गति भी शुद्ध नहीं, उसकी अन्य शुद्धियाँ भी निरर्थक ही हैं।

मनुष्य देह का सार शुद्ध मति एवं बुद्धि की प्रवीणता को माना जाता है। इस हेयोपादेय बुद्धि की प्राप्ति पुण्य का सुफल है। नीतिकार कहते हैं–**"णिम्मला बुद्धी हु महारयणं"** निर्मल बुद्धि ही महारत्न है। उसी के द्वारा जीव रत्नत्रय के मार्ग को चुन पाता है और अपना कल्याण करने में समर्थ बनता है। इसलिए मनुष्य जन्म पाकर भी

श्रेष्ठ मति, हेय-उपादेय रूपी विवेक की प्राप्ति होना अत्यंत दुर्लभ है।

आगे कहा–**'श्रवण'** जिनेन्द्र भगवान का उपदेश सुनना बहुत दुर्लभ है। और यदि किसी को सुनने का अवसर मिल भी जाए तो उसे श्रद्धापूर्वक सुन पाना उससे भी अधिक दुर्लभ है। क्योंकि–

मिथ्यादृष्टि जीव को जिनवाणी न सुहाय।
कि ऊँघे कि लड़ मरे, कि उठ घर को जाए।।

इस कलिकाल में धर्म के दो शब्द सुनाने वाले भी दुर्लभ हैं। और यदि पूर्व पुण्य से मिल भी जाएँ तो अपना मन सुनने का नहीं होता। मन तो अन्य बातों में लगा रहता है। कोई कहे–संयम-व्रत-नियम अपनाओ, तप, ध्यान करो, पुण्य-पाप का विचार करो तो मन नहीं लगता। लेकिन हास्य कथानक करो, चुटकले सुनाओ, अन्य निंदा, बुराई, चुगली की बात करो तो उसमें घंटों का समय भी कब निकल जाता है पता ही नहीं चलता। इसलिए कहा–जिनशास्त्र का श्रवण, मुनिराज की वाणी का श्रवण करने के लिए जिसका मन प्यासे चातक की तरह लालायित रहता है, वह भव्य है। जिसका मन सीप की तरह स्वाति नक्षत्र की बूँद के लिए प्यासा रहता है, जैसे–सीप को जब स्वाति की बूंद प्राप्त होती है, तो वह मोती बन जाती है। उसी प्रकार जो भव्यजीव श्रद्धा से जिनवचन को सुनता है, ग्रहण करता है, वह आत्महित करने में समर्थ हो जाता है।

जिनवचनों का श्रवण संसार के किसी भी मधुर पदार्थ से श्रेष्ठ है। जिनकथा सुनने से पाप निश्चित ही क्षीणता को प्राप्त होते हैं। आचार्य भगवन् अमोघवर्ष स्वामीजी ने 'प्रश्नोत्तर रत्नमालिका' ग्रंथ में एक सुंदर श्लोक कहा– उन्होंने कहा–"**पातुं कर्णाञ्जलिभिः किममृतमिव बुध्यते सदुपदेशः**" कर्ण रूपी अंजुलि से पीने के लिए अमृत के समान क्या है? तो उन्होंने कहा–सदुपदेश, जिनोपदेश रूपी अमृत का पान ही कर्ण रूपी अंजुली से करना चाहिए। मनुष्य अवस्था प्राप्त करके शास्त्र का उपदेश सुन पाना भी अत्यंत दुर्लभ और कठिन है।

महानुभाव! केवल सुन लेना ही पर्याप्त नहीं–'**ग्रहणं**' अर्थात् ग्रहण करना उससे भी अधिक दुर्लभ है। अक्सर क्या होता है? लोग एक कान से सुनते हैं और दूसरे कान से निकाल देते हैं। तीन प्रकार के श्रोता होते हैं।

एक राजा के दरबार में एक मूर्तिकार आया। वह अपने साथ तीन मूर्तियाँ लाया। उसने कहा–"महाराज! इन तीनों मूर्तियों का मूल्य अलग-अलग है–एक मूर्ति दो कोड़ी, दूसरी एक लाख रुपये और तीसरी–आप अपना पूरा राज्य भी दें तो भी कम है अर्थात् पूरे राज्य से भी अधिक मूल्यवान। राजा आश्चर्य में पड़ गया क्योंकि तीनों मूर्तियाँ एक ही सांचे में ढली हुई थी। राजा ने मंत्रियों और विद्वानों से पूछा–"बताओ, इनमें क्या अंतर है?" लेकिन मंत्री परिषद आदि कोई भी उनका भेद नहीं बता पाया। तब एक वृद्ध, अनुभवी मंत्री जो सेवा निवृत्त हो गए थे; उनको

बुलाया गया। उस वृद्ध मंत्री ने तीनों मूर्तियों को ध्यान से देखा एक-एक करके परीक्षण किया। मंत्री ने पहली मूर्ति के कान में धागा डाला दूसरे कान से बाहर निकल गया, मंत्री ने कहा ''इस मूर्ति की कीमत दो कौड़ी है।'' पुनः दूसरी मूर्ति के कान में धागा डाला–मुख से बाहर निकल गया ''इस मूर्ति की कीमत एक लाख रुपये है। पुनः तीसरी मूर्ति के कान में धागा डाला–धागा अंदर ही समा गया। मंत्री ने कहा–''राजन्! इस मूर्ति की कीमत अमूल्य है। मूर्तिकार प्रसन्न होकर बोला–आपने सही पहचान लिया, यह अमूल्य मूर्ति मैं आपको उपहार में देकर जाता हूँ।

महानुभाव! ऐसे ही जो व्यक्ति सुनकर भी ग्रहण नहीं करता, एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देता है, उसका सुनना व्यर्थ है। जो सुनकर केवल दूसरों को सुनाता है पर स्वयं जीवन में नहीं उतारता; वह भी पूर्ण नहीं है। सार्थक वही है–जो सुनकर उसे हृदय में उतारे, आचरण में लाए। आचार्य कहते हैं–श्रवण करना भी दुर्लभ है और ग्रहण करना तो उससे भी अधिक दुर्लभ है।

चिक्कण-घडेण सचियं ढलीऊणं पाणिय जाई।
कोरं कुंभं च भेदइ तहावि भव्व-जीवाणं।। (सि.प्र.)

चिकने घड़े पर कितना भी पानी डालो, वह जैसे का तैसा बना रहता है। पानी उस पर ठहरता नहीं। लेकिन यदि वही पानी कोरे (कच्चे) घड़े के ऊपर डालो, तो वह पानी को सोख लेता है। उसी प्रकार भव्यों को दिया गया उपदेश तभी कार्यकारी होता है जब श्रोता उसे ग्रहण करें। अन्यथा

सब व्यर्थ हो जाता है। किंतु ऐसी श्रवण और ग्रहण की योग्यता बहुत ही विरले भव्य जीवों को प्राप्त होती है।

जिसके चित्त में अनादिकालीन विषय-वासना की कालिमा रूपी चिकनाई लगी हो वहाँ धर्मोपदेशरूपी अमृत यूँ तो मिलता ही नहीं, मिल भी जाए तो टिकता नहीं। श्रवण करना और ग्रहण करने का आशय है हेय-उपादेय का विवेक होना। अर्थात् मेरे लिए क्या अच्छा है क्या बुरा है, किसमें मेरी आत्मा का हित निहित है, यह पहचान होना भी दुर्लभ है।

अन्त में आचार्य कहते हैं–**'श्रद्धा'**। सुने हुए पर श्रद्धा हो, विश्वास हो तभी कल्याण हो सकता है। जिन-श्रुत और मुनियों पर विश्वास किए बिना धर्म का मर्म समझ में नहीं आता, आत्महित संभव नहीं होता। आचार्यों ने कहा है–**''सद्धाए विणा अत्थ-णाणं सुभावेहि विणा च पुरिसस्स कल्लाणं असंभवो''** श्रद्धा के बिना पदार्थ का ज्ञान और सुभावों के बिना पुरुष का कल्याण दोनों असंभव हैं। इसलिए श्रद्धा ही वह नींव है जिसके बिना मोक्ष का महल खड़ा नहीं हो सकता। श्रद्धा ही जिनधर्म का आधार है।

इस प्रकार यहाँ आचार्य महोदय ने मनुष्य जन्म की दुर्लभता के साथ-साथ अन्य दुर्लभतम वस्तुओं का बोध कराया। इसी बात की पुष्टि करते हुए आचार्य भगवन् सोमदेव सूरिजी ने कहा है–यह जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, विकथा और पंचेन्द्रिय–विषयों के वशीभूत होकर प्रमाद में मनुष्य भव को व्यर्थ में ही खो रहा है। यह दुर्लभ

मनुष्य भव उसमें भी दुर्लभ देश, जाति, कुल, रूप, आयु, निरोगी शरीर, शुद्धमति, श्रवण-ग्रहण की योग्यता और श्रद्धाभाव को प्राप्त करके भी यदि व्यर्थ गवाँ दिया, तो यह ऐसा ही है जैसे-किसी को पुण्योदय से सोने की थाली मिल जाए और वह अज्ञानी उसमें कीचड़, गारा, मिट्टी भरकर उसे नष्ट कर दे या फिर जिसको अमृत की एक बूँद मिल जाए जिससे अमरत्व प्राप्त हो सकता है, परंतु प्रमादी मनुष्य उसका उपयोग करने के बजाय उससे अपने पैरों को धो ले। इसी प्रकार यह मनुष्य जन्म, जो चिंतामणि रत्न के समान है, आपको पुण्य योग से मिला है। उसे यूँ ही व्यर्थ न गँवाओं, उस अनमोल मनुष्यभव का सदुपयोग करना ही सच्ची बुद्धिमानी है।

सामग्रीं प्राप्य सम्पूर्णां यो विजेतुं निरुद्यमः।
विषयारिमहासैन्यं, तस्य जन्म निरर्थकम्।।319।। (सार.समु.)

सर्व अनुकूल सामग्री को प्राप्त करके भी यदि मानव विषय रूपी शत्रुओं की महान सेना को जीतने का प्रयत्न नहीं करता, तो उसका मानव जन्म प्राप्त करना निष्फल है। आचार्य महोदय ने मनुष्य जन्म, उत्तम देश, उत्तम जाति, उत्तम कुल, उत्तम रूप, आरोग्यता, पूर्णायु, शुद्धमति और जिनवचनों को श्रद्धापूर्वक श्रवण व ग्रहण ये सभी उत्तरोत्तर दुर्लभ बताए हैं। इसलिए इनकी दुर्लभता को समझकर आत्महित में प्रवृत्त होना ही जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। आज बस इतना ही...।

श्री शांतिनाथ भगवान की जय!

मोह का भेदन

महानुभाव! आचार्य भगवन् नागसेन मुनिराज ने 'तत्त्वानुशासन' ग्रंथ में आत्मकल्याण के लिए लघुकाय कारिकाएँ प्रस्तुत की हैं। वे पठनीय, मननीय एवं ग्राह्य हैं। यह ग्रंथ अपने आप में एक अनुपम ग्रन्थ है।

जिसका चित्त अशान्त हो, चित्त में तनाव हो, बैर की गाँठ खुल नहीं रही हो, मानकषाय का पहाड़ कठोर होता जा रहा हो, क्रोध की अग्नि शान्त नहीं हो रही हो और मायाचारी का जल पल-पल में आपको छल रहा हो जिससे आपका अन्तःकरण जल रहा हो–तो तत्त्वानुशासन ग्रन्थ का स्वाध्याय करना प्रारंभ कर दीजिए।

यह ग्रंथ लोभ–वृत्ति को निर्मूल करके संतोष–वृत्ति को जगाने वाला है। यह ग्रंथ आपकी वक्र–वृत्ति को निराकृत करके सरल, सहज परिणामों को प्रकट करने वाला है। यह तत्त्वानुशासन ग्रंथ चट्टानवत् आपके हृदय को मृदु, नवनीत की तरह से बनाकर मार्दव धर्म को संप्रेषित करने वाला है। यह ग्रंथ क्रोध के स्थान पर क्षमा भाव को आपके भीतर आरोपित करने वाला है। इसीलिए तत्त्वानुशासन ग्रन्थ का स्वाध्याय जीवन में एक बार तो अवश्य करना चाहिए। वैसे तो कई बार करो, करते ही रहो। सार समुच्चय ग्रन्थ, सुभाषितरत्नावली, तत्त्वानुशासन, ये ऐसे ग्रन्थ हैं जिन्हें छोड़ना नहीं चाहिए, चौबीस घंटे अपने पास रखना चाहिए।

इनमें आनंद भरा है, वह जैसे गाय के स्तनों में सुस्वादिष्ट, मिष्ट, आरोग्यवर्धक क्षीरभरा हो। और इनके श्लोकों का रसपान करने वाला निःसंदेह अपनी आत्मा पर अनुशासन करने वाला होता है। वही व्यक्ति मोह की सेना को जीतने में समर्थ होता है। आचार्य महोदय इस मोह की सेना को जीतने के संबंध में कहते हैं–

ममाहंकार नामानौ सेनान्यौ तौ च तत्सुतौ।
यदा यत्तः सुदुर्भेदः मोहव्यूहः प्रवर्तते।।13।।

हमारे जीवन में है ममत्व बुद्धि–''यह मेरा है'' और दूसरी बुद्धि है 'अहमेदं बुद्धि' ''मैं ऐसा हूँ, मैं यह हूँ''। ये दोनों बुद्धि ऐसी हैं जो जीव को संसार सागर से पार नहीं होने देती। ये दो ऐसी रज्जु हैं जिनसे बँधा हुआ प्राणी चाहकर भी संसार–सागर से पार नहीं जा पाता। ये दोनों ऐसे दृढ़ कवच हैं जो भव्य जीवों के पंखों को पकड़कर बैठ गए हैं–कितना भी फड़फड़ाएँ, उड़ नहीं पाते। ममत्व और अहंकार बुद्धि ने हमारे ज्ञान–वैराग्य रूप पंखों को कुतर दिया है।

ममत्व और अहंकार–ये दोनों मोहनीय सेना के सेनानायक हैं। मोहनीय कर्म को पराजित करना कोई साधारण बात नहीं है। किंतु यदि ममकार और अहंकार इन दोनों सेनानायकों को किसी तरह अपने पक्ष में कर लिया जाए, तो मोह रूपी राजा को पराजित किया जा सकता है। किन्तु सेनानायक मोहनीय कर्म का अपना स्वयं का बेटा है और पिता के

संस्कार है। जैसे पिता चण्ड हो तो बेटा प्रचण्ड होता है। इसे भी अपने ऊपर बहुत घमण्ड है। इसीलिए अनादिकाल से यह मोहनीय कर्म पराजित नहीं हुआ। मोहनीय कर्म के दो बेटे–मम और अहंकार; अर्थात 'मम्' कहिए तो पाप–बुद्धि और 'अहंकार' कहिए तो मान–कषाय। पाप–बुद्धि कहने से हिंसादि पाँच पाप आते हैं और अहंकार कहने से चारों कषायें आती हैं। जब ये होती हैं तो इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति भी होती है।

महानुभाव! अहंकार को चेतना का अंधकार कहना चाहिए। अंधकार वह होता है जो आँखों वाले व्यक्ति को भी अंधा कर दे। यदि अमावस्या का घोर अंधकार हो, तो आँखों वाला व्यक्ति चश्मा भी लगा ले, यदि प्रकाश न हो तो सामने वाला पहाड़ भी नहीं देख सकता।

''**हाथ ठंड में और दिमाग घमंड में काम नहीं करता।**'' हाथ ठंड में ठिठुर रहे हों तो वस्तु पकड़ में नहीं आती, छूट जाती है; और दिमाग घमण्ड में हो तो सही तरह से काम नहीं करता। फिर क्या करना चाहिए? ठंड को दूर करने के लिए आवश्यकता है ऊष्णता की, और घमण्ड को चूर करने के लिए आवश्यकता है एक चोट की–जिससे घमण्ड चूर–चूर हो जाए और संसार का यर्थाथ बोध हो जाए।

ममत्व बुद्धि को नष्ट करने के लिए अशरण भावना का चिंतन करो। रावण जैसा अहंकार, कंस जैसा अहंकार,

कौरवों जैसा अहंकार और न जाने कितने राजा हुए, जिन्होंने कहा–'यह मेरा यह मेरा'; किन्तु अंततः किसी का कुछ नहीं रहा। अशरण भावना का चिंतन करो–कुछ भी मेरा नहीं। और यदि अहंकार बुद्धि को नष्ट करना है–मैं ऐसा, मैं ऐसा हूँ तो अनित्य भावना का चिंतन करो। जब मैं ही अनित्य हूँ तो क्या मेरा रूप, सौन्दर्य, क्या मेरी जाति-कुल, मेरा ज्ञान, मेरा क्षयोपशम, ये सब मेरा नश्वर है। अनित्यभावना का चिंतन करते ही यथार्थ बोध होता है। व्यक्ति यथार्थता के धरातल पर खड़ा होता है और अहं व मम-दोनों बुद्धियों को छोड़ने में समर्थ होता है।

ये मोहनीय राजा के सेनापति साधारण नहीं हैं। ये इतने चतुर हैं कि अपनी सेना का एक भी सैनिक नष्ट नहीं होने देते, बल्कि आत्मा को बार-बार पीड़ित करते हैं, बंदी बना देते हैं, घायल कर देते हैं। कैसे? मोहनीय सेना के सेनानायक अत्यन्त प्रबल हैं। वे प्रत्यक्ष युद्ध नहीं करते–न तलवार चलाते हैं, न बाण, न भाला, न तोप-गोला का प्रयोग करते हैं–बल्कि वे सूक्ष्म व्यूह-रचना करते हैं।

आपने 'चक्रव्यूह' के बारे में सुना होगा। आत्मा उसी में उलझकर घूमता रहता है, बाहर निकलने का मार्ग नहीं पाता। 'मकर व्यूह'–उसमें प्रवेश कर जाए तो निकलना कठिन। 'गरुड़ व्यूह', 'त्रिशूल व्यूह' जिसमें त्रिविध रचना होती है–वे भीतर ही भीतर सेना को ऐसे घेर लेते हैं कि बाहर निकलना असंभव हो जाता है। चाहे 'ध्वज व्यूह हो,

चाहे 'गजानन व्यूह', चाहे 'पंचानन व्यूह'–वे विविध प्रकार की रचनाएँ करते हैं, जिन्हें देखकर शत्रु–पक्ष को प्रारंभ में तो ऐसा प्रतीत होता है कि हम सेना को परास्त कर देंगे, किंतु अंदर जाकर देखा–आगे-पीछे, दाएँ–बाएँ, सर्वत्र सेना खड़ी है; फँस गए। ऐसे ही मोहनीय राजा के दोनों सेनापतियों ने इस आत्मा को अनेक बार घेर-घेरकर मारा है और पकड़कर के चतुर्गति रूपी काल कोठरी में डालते रहते हैं, कुयोनियों में पटकते रहते हैं। इस मोहनीय कर्म को जीतना कोई बच्चों का खेल नहीं है। यदि इसे जीतना इतना ही सरल होता तो कब का जीतकर आगे बढ़ गए होते।

महानुभाव! यह मोहनीय कर्म अत्यंत दुर्जेय है। यदि किसी ने एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर भी लिया–उपशम या क्षयोपशम को, फिर वहाँ से द्वितीयोपशम सम्यक्त्व को भी प्राप्त कर लिया, मुनि पद को भी धारण कर लिया, कषायों को दबाते हुए उपशम श्रेणी चढ़कर ग्यारहवें गुणस्थान तक भी पहुँच गए, तो भी वहाँ से पुनः पतित होकर, पहले गुणस्थान में आकर, कुछ कम अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल तक परिभ्रमण किया जा सकता है। यह संसार अनंत है। और मोह भी अनंत रूपों में प्रकट होकर जीव को बाँधता रहता है, वह नाना प्रकार के संसार रूप–रचकर सामने आता है।

संसारे ते नरा धन्याः ये मोहेनैव मोहिताः।

मोह-मोहित-चित्तानां न जने वने रतिः।। –(सि.प्र.)

महानुभाव! आचार्यों ने लिखा है—इस संसार में वे ही मानव धन्य हैं, जो मोह की सामग्री प्राप्त होते हुए भी मोहित नहीं होते। ऐसे साधु पुरुषों को न अपने प्रियजनों से प्रीति होती है, न जंगल में रहने वालों से; वे जहाँ भी हों—वन या नगर में—मोह उन्हें स्पर्श नहीं कर पाता। वे उस पर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

इस मोह के 28 रूप मुख्य माने गए हैं। पुनः यदि इन 28 के भेद किए जाएँ तो ये 2800, 28,000, 28 अरब और असंख्यात भेदों में विस्तार पाते चले जाते हैं।

पहला रूप है 'मिथ्यात्व' जो बुद्धि को भ्रष्ट कर देता है। यह बुद्धि को मिथ्या बना देता है।

दूसरा रूप है 'सम्यक्मिथ्यात्व' जो आधा अधूरा अच्छा-अच्छा दिखाता है, किन्तु भीतर से मिथ्यात्व के साथ ही जुड़ा रहता है। जैसे खीर दिखाई देती है, पर उसमें जहर मिला हो; या शर्बत शीतल और मीठा है। यह जो रूप दिखाई देता है वह अलग है; और जो वास्तव में कार्य कर रहा होता है, वह अलग होता है। किंतु उसमें तेजाब मिला होता है। यह सम्यक्त्व मिथ्यात्व है। यह जो रूप दिखाई देता है, वह अलग है; और जो वास्तव में कार्य कर रहा होता है, वह अलग होता है।

तीसरा रूप है सम्यक् प्रकृति जो दिखने में अत्यंत सूक्ष्म व छोटी होती है। पर वास्तव में बहुत खोटी होती है। इसके उदय रहते हुए जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर

पाता। इसके रहते हुए जीव उपशम व द्वितीयोपशम सम्यक्त्व को भी प्राप्त नहीं कर सकता। इसके उदय रहते सम्यक्त्व में भी दोष लगेंगे ही लगेंगे।

पुनः इसके रूप हैं–अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ। ये अनंतानुबंधी बड़े प्रबल होते हैं; उनको जीतना बड़ा कठिन है। एक बार इनके शिकंजे में फँस जाए तो ये चुनौती देते हैं कि अनंतकाल तक तुम्हें संसार में परिभ्रमण करा सकता हूँ। चाहे अनंतानुबंधी क्रोध से रिश्ता जोड़ो, चाहे मान से, चाहे माया से और चाहे लोभ से। अरे! सम्बन्ध जोड़ना क्या, ये तो अनादिकाल से जुड़े हुए हैं। यदि किसी प्रकार उन्हें थोड़ी देर के लिए दबा दिया जाए, तो वे अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ के रूप में प्रकट हो जाते हैं। और यदि वहाँ से भी आगे बढ़े तो प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ के रूप में सामने आते हैं। वहाँ से भी आगे बढ़े तो संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ के रूप में प्रकट होते हैं। इस स्तर पर लोभ भी कुछ हद तक नीचे आ सकता है।

पुनः इनके नौ रूप 'नवकषाय के रूप में होते हैं। **हास्य**–भी मोहनीय राजा के राज्य का एक सैनिक है। यह हँसना भी मोहनीय कर्म का ही एक कार्य है। **'रति'** यदि किसी के प्रति रागान्वित हो रहे हैं, तो यह भी मोह का ही रूप है। **'अरति'** यदि किसी के प्रति द्वेष बुद्धि हो रही है तब भी वह मोहनीय कर्म का प्रभाव है। **'शोक'** जब किसी वस्तु या व्यक्ति के वियोग में मनुष्य दुःखी होता है, व्याकुल

होता है, अश्रुपात कर रहा है, तब यह भी मोहनीय कर्म का प्रभाव ही समझना चाहिए। यह शोक व्यक्ति के धर्म को नष्ट करता है, बुद्धि को क्षीण करता है, और इतना ही नहीं, शास्त्रज्ञान को भी नष्ट कर देता है, क्षयोपशम घटाता है।

शोक के वशीभूत मनुष्य की धृति (धैर्य), मति (बुद्धि), गति (उन्नति), रति (रुचि), यति (संयम), नम्रता, स्मृति और रुचि–सब नष्ट हो जाती है। उसका समस्त सुख अकस्मात नष्ट हो जाता है। इस प्रकार ये नव कषाय रूप शत्रु चित्त को अत्यधिक पीड़ा देने वाले होते हैं। ऐसे मोहनीय कर्म के रूपधारी शत्रु 'शोक' के विषय में आचार्य भगवन् रविषेण स्वामीजी ने कहा है–

शोकः प्रत्युत देहस्य शोषीकरण-मुत्तमम्।
पापानामय - मुद्रेको महामोहप्रवेशनः॥ (6/484)

शोक से कोई लाभ नहीं होता, बल्कि शरीर का शोषण ही होता है। यह पापों का तीव्रोदय कराने वाला और महामोह में प्रवेश कराने वाला है।

यदि आप भयभीत हो रहे हैं, मृत्यु से डर रहे हैं, रोग से डर रहे हैं, इहलोक-परलोक का भय, मरण-वेदना का भय, अगुप्ति का भय, अरक्षा का भय, अकस्मात भय–ये सात प्रकार के भय बताए गए हैं। इनसे भयभीत होना मोहनीय कर्म का ही प्रभाव है।

किसी को अग्नि से, किसी को जल से, किसी को अन्य किसी कारण से भय लगता है, और इतना ही नहीं,

किसी–किसी को तो इतना अधिक भय लगता है कि हृदयघात तक हो जाता है और व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। अतः यह समझना चाहिए कि भय भी मोहनीयकर्म का ही एक रूप है।

'जुगुप्सा'–यदि किसी गंदे पदार्थ को देखकर आपको ग्लानि आ रही है, नाक सिकुड़ रही है, तो यह भी मोहनीयकर्म का ही एक रूप है। इसी प्रकार स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसंकवेद–ये भी मोहनीय कर्म के साम्राज्य के सैनानी हैं। यदि पुरुष के प्रति आसक्ति है, पुरुष के साथ रमण करने की भावना है, तो यह भी मोहनीय कर्म ही अपना रूप दिखा रहा है। यदि स्त्री के प्रति आसक्ति है और उसके साथ रमण करने की भावना है, तो यह भी मोहनीयकर्म अपना प्रभाव दिखा रहा है। और यदि स्त्री एवं पुरुष दोनों के प्रति रमण की भावना है, तो वह नपुंसकवेद है–जो मोहनीय कर्म का ही एक भेद है।

महानुभाव! जब कोई व्यक्ति एक या दो रूप धारण कर ले, तब उसे जीतना मुश्किल हो जाता है। साहसगति विद्याधर ने सुग्रीव का रूप बनाकर उसके राज्य पर कब्जा कर लिया, छल से उसकी पत्नी सुतारा का हरण करना चाहा। जब एक ही रूप से सुग्रीव इतना परेशान हो गया, तब जिस मोह के 28 मूल रूप हैं, और हजारों, लाखों, खरबों अन्य रूप हों तब उससे व्यक्ति कैसे बचे? यह मोह मित्र के रूप में आता है, किन्तु शत्रु की भाँति घात करके

चला जाता है। यदि शत्रु सामने खड़ा हो, तो उससे बचाव संभव है; किन्तु जो गले में हाथ डालकर साथ चले और पीछे से कुठार घुसा दे–ऐसे शत्रु से बचना बड़ा कठिन होता है।

महानुभाव! यहाँ ममकार और अहंकार नाम के दो सेनानायक बताए गए हैं। इन दोनों को भेदना बड़ा कठिन है। पत्थर की दीवार को तो तोड़ा जा सकता है, लोहे को भी काटा जा सकता है, किन्तु वज्र को कैसे काटा जाए। यदि वज्र के ऊपर लोहे से प्रहार किया जाए, तो लोहा ही चूर-चूर हो जाएगा, वज्र नहीं टूटेगा। और यदि पत्थर पर वज्र का प्रहार किया जाए, तो पत्थर चूर-चूर हो जाएगा। इसी प्रकार वज्र के समान यह मोहनीय की सेना है, जो तिल-तिल करके आत्मा को नष्ट करती रहती है। वह आत्मा के प्रदेश को इस प्रकार आहत करती है कि आत्मा पुनः साहस नहीं कर पाती और मिथ्यात्व में ही पड़ी रहती है।

अनादिकाल से इस मोह के व्यूह में फँसकर यह जीव आत्मा का हित करने में समर्थ नहीं हो पाता। इसलिए इस मोहनीय कर्म की शक्ति को शमन करने का एक ही उपाय है–**जिनवचनों का श्रवण करना, निर्ग्रंथ गुरुओं के सान्निध्य में बैठना और परमात्मा का निरन्तर ध्यान करना।** इन्हीं उपायों के माध्यम से मोहनीय कर्म की शक्ति क्षीण होती जाती है। और आत्मा की शक्ति प्रबल होती जाती है। जब एक दिन आत्मा की शक्ति प्रबल हो जाती है, तब

उसके पास तीन रत्न आ जाते हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र—ये तीनों मिलकर मोह के साथ रहने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों को नष्ट कर देते हैं, और आत्मा अरिहंत बन जाती है। चार अघातिया कर्म भी जली हुई रस्सी के समान निष्प्रभावी हो जाते हैं, वे केवल नाममात्र रह जाते हैं। तब आत्मा उन कर्मों को भी नष्टकर सिद्धत्व के वैभव को अर्थात आत्मतत्त्व को प्राप्त करने में समर्थ हो जाती है। यही सभी भव्य जीवों की नियति है। आप और हम सभी उसी नियति को प्राप्त करें, आज बस इतना ही....।

श्री शांतिनाथ भगवान की जय!

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108

वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा

रचित व संपादित साहित्य

मौलिक कृतियाँ

(प्राकृत साहित्य)			
क्र.सं.	नाम	क्र.सं.	नाम
1.	प्राकृत वाणी भाग-1	2.	प्राकृत वाणी भाग-2
3.	प्राकृत वाणी भाग-3	4.	प्राकृत वाणी भाग-4
5.	प्राकृत वाणी भाग-5	6.	अहिंसगाहारो (अहिंसक आहार)
7.	अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)	8.	अणुवेक्खा-सारो (अनुप्रेक्षा सार)
9.	जिणवर-थोत्तं (जिनवर स्तोत्र)	10.	जदि-किदि-कम्मं(यति कृतिकर्म)
11.	णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)	12.	णिग्गंथ-थुदी (निर्ग्रन्थ स्तुति)
13.	तच्चसारो (तत्त्व सार)	14.	धम्म सुत्तं (धर्म सूत्र)
15.	अप्प-विहवो (आत्म वैभव)	16.	सुद्धप्पा (शुद्धात्मा)
17.	अप्पणिब्भर-भारदं (आत्मनिर्भर भारत)	18.	विज्जा-वसु-सावयायारो (विद्यावसु श्रावकाचार)
19.	रट्ठ-संति-महाजण्णो (राष्ट्र शांति महायज्ञ)	20.	अट्ठंग जोगो (अष्टांग योग)
21.	णमोयार महप्पुरो (णमोकार माहात्म्य)	22.	मूल-वण्णो (मूल वर्ण)
23.	मंगल-सुत्तं (मंगल सूत्र)	24.	विस्स-धम्मो (विश्व धर्म)
25.	विस्स-पुज्जो-दियंबरो (विश्व पूज्य दिगम्बर)	26.	समवसरण सोहा (समवसरण शोभा)
27.	वयण-पमाणत्तं (वचन प्रमाणत्व)	28.	अप्पसत्ती (आत्म शक्ति)
29.	कला-विण्णाणं (कला विज्ञान)	30.	को विवेगी (विवेकी कौन)
31.	पुण्णासव-णिलयो (पुण्यास्रव निलय)	32.	तित्थयर-णामत्थुदी (तीर्थंकर नाम स्तुति)
33.	रयणकंडो (सूक्ति कोश)	34.	धम्मस्स सुत्ति संगहो
35.	कम्म-सहावो (कर्म स्वभाव)	36.	खवगराय सिरोमणी (क्षपकराज शिरोमणि)
37.	सिरि सीयलणाह-चरियं (श्री शीतलनाथ चरित्र)	38.	अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)
39.	समणायारो (श्रमणाचार)	40.	असोग-रोहिणी-चरियं (अशोक रोहिणी चरित्र) (महाकाव्य)
41.	लोगुत्तरविट्टी (लोकोत्तर वृत्ति)	42.	समणभावो (श्रमण भाव)
43.	झाणसारो (ध्यानसार)	44.	इड्ढिसारो (ऋद्धिसार)
45.	जिणवयणसारो (जिनवचनसार)	46.	भत्तिगुच्छो (भक्ति गुच्छ)
47.	पसमभावो (प्रशम भाव)	48.	सम्मेदसिहर महप्पुरो (सम्मेदशिखर महात्म्य)

49.	अम्हाण आयवत्तो (हमारा आर्यावर्त्त)	50.	विणयसारो (विनय सार)
51.	तव-सारो (तप सार)	52.	भाव-सारो (भाव सार)
53.	दाण-सारो (दान सार)	54.	लेस्सा-सारो (लेश्या सार)
55.	वेरग्ग-सारो (वैराग्य सार)	56.	णाण-सारो (ज्ञान सार)
57.	णीदि-सारो (नीति सार)	58.	आयंस-सिक्खाविही (आदर्श शिक्षाविधि)
59.	दंसण-परिक्खा (दर्शन परीक्षा)	60.	महाणुभावो (महानुभाव)
61.	उववासो (उपवास)	62.	संजम-सारो (संयमसार)
63.	सम्मत्त-सारो (सम्यक्त्व सार)	64.	सज्जण-वयण-विलासो (सज्जन वचन विलास)
65.	विदु-वाणी	66.	सूदग-पादग-णिण्णय-विही (सूतक-पातक निर्णय विधि)
67.	सगसरूवावलोयणं (स्वस्वरूपावलोकन)	68.	सुद्धप्प-थुदी-(शुद्धात्म स्तुति)

टीका ग्रंथ

1.	प्रमेया टीका-रत्नमाला (संस्कृत)	2.	वसुधा टीका-द्रव्यसंग्रह (संस्कृत)
3.	नय प्रबोधिनी-आलाप पद्धति (हिंदी)	4.	श्रीनंदा टीका-सिद्धिप्रिय स्तोत्र (संस्कृत)

इंग्लिश साहित्य

1.	Inspirational Tales Part& 1&2	2.	Meethe Pravachan Part-I

वाचना साहित्य

1.	इष्टोपदेश (मुक्ति का वाग्दान)	2.	प्रश्नोत्तर रत्नमालिका (बोधि वृक्ष)
3.	सामायिक पाठ (शिवपथ का रथ)	4.	समाधि तंत्र (स्वात्मोपलब्धि)
5.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार (श्रावकधर्म-संहिता)	6.	ज्ञानांकुश (तत्त्व चिंतन के सूत्र)

प्रवचन साहित्य

1.	आईना मेरे देश का	2.	उत्तम क्षमा धर्म (आत्मा का ए.सी. रूम)
3.	उत्तम मार्दव धर्म (मान महाविष रूप)	4.	उत्तम आर्जव धर्म (रंचक दगा बहुत दु:खदानी)
5.	उत्तम शौच धर्म (लोभ पाप का बाप बखाना)	6.	उत्तम सत्य धर्म (सतवादी जग में सुखी)
7.	उत्तम संयम धर्म (जिस बिना नहिं जिनराज सीझे)	8.	उत्तम तप धर्म (तप चाहे सुरराय)
9.	उत्तम त्याग धर्म (निज हाथ दीजे साथ लीजे)	10.	उत्तम आकिंचन धर्म (परिग्रह चिंता दु:ख ही मानो)
11.	उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म (चेतना का भोग)	12.	खुशी के आँसू

13.	खोज क्यों रोज-रोज	14.	गुरुत्तं भाग 1
15.	गुरुत्तं भाग 2	16.	गुरुत्तं भाग 3
17.	गुरुत्तं भाग 4	18.	गुरुत्तं भाग 5
19.	गुरुत्तं भाग 6	20.	गुरुत्तं भाग 7
21.	गुरुत्तं भाग 8	22.	गुरुत्तं भाग 9
23.	गुरुत्तं भाग 10	24.	गुरुत्तं भाग 11
25.	गुरुत्तं भाग 12	26.	गुरुत्तं भाग 13
27.	गुरुत्तं भाग 14	28.	गुरुत्तं भाग 15
29.	गुरुत्तं भाग 16	30.	गुरुत्तं भाग 17
31.	गुरुत्तं भाग 18	32.	गुरुत्तं भाग 19
33.	चूको मत	34.	जय बजरंगबली
35.	जीवन का सहारा	36.	ठहरो! ऐसे चलो
37.	तैयारी जीत की	38.	दशामृत
39.	धर्म की महिमा	40.	ना मिटना बुरा है न पिटना
41.	नारी का धवल पक्ष	42.	शायद यही सच है
43.	श्रुत निर्झरी	44.	सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की शौर्य गाथा
45.	सीप का मोती (महावीर जयंती)	46.	स्वाती की बूँद

हिंदी गद्य रचना			
1.	अन्तर्यात्रा	2.	अच्छी बातें
3.	आज का निर्णय	4.	आ जाओ प्रकृति की गोद में
5.	आधुनिक समस्यायें प्रमाणिक समाधान	6.	आहारदान
7.	एक हजार आठ	8.	कलम पट्टी बुद्धिका
9.	गागर में सागर	10.	गुरु कृपा
11.	गुरुवर तेरा साथ	12.	जिन सिद्धांत महोदधि
13.	डॉक्टरों से मुक्ति	14.	दान के अचिन्त्य प्रभाव
15.	धर्म बोध संस्कार (भाग 1-4)	16.	धर्म संस्कार (भाग 1-2)
17.	निज अवलोकन	18.	वसु विचार
19.	वसुनन्दी उवाच	20.	मीठे प्रवचन (भाग 1)
21.	मीठे प्रवचन (भाग 2)	22.	मीठे प्रवचन (भाग 3)
23.	मीठे प्रवचन (भाग 4)	24.	मीठे प्रवचन (भाग 5)
25.	मीठे प्रवचन (भाग 6)	26.	रोहिणी व्रत कथा
27.	स्वप्न विचार	28.	सद्गुरु की सीख
29.	सफलता के सूत्र	30.	सर्वोदयी नैतिक धर्म

31.	संस्कारादित्य	32.	हमारे आदर्श

हिंदी काव्य रचना			
1.	अक्षरातीत	2.	कल्याणी
3.	चैन की जिंदगी	4.	ना मैं चुप हूँ ना गाता हूँ
5.	मुक्ति दूत के मुक्तक	6.	हाइकू
7.	हीरों का खजाना	8.	सुसंस्कार वाटिका

विधान रचना			
1.	कल्याण मंदिर विधान	2.	कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
3.	चौसठऋद्धि विधान	4.	णमोकार महार्चना
5.	दुःखों से मुक्ति (बृहद् सहस्रनाम महार्चना)	6.	यागमंडल विधान
7.	श्री समवशरण महार्चना	8.	श्री नंदीश्वर विधान
9.	श्री सम्मेदशिखर विधान	10.	श्री अजितनाथ विधान
11.	श्री संभवनाथ विधान	12.	श्री पद्मप्रभ विधान
13.	श्री चंद्रप्रभ विधान (देहरा तिजारा)	14.	श्री चंद्रप्रभ विधान
15.	श्री पुष्पदंत विधान	16.	श्री शांतिनाथ विधान
17.	श्री मुनिसुव्रतनाथ विधान	18.	श्री नेमिनाथ विधान
19.	श्री महावीर विधान	20.	श्री जम्बूस्वामी विधान
21.	श्री भक्तामर विधान	22.	श्री सर्वतोभद्र महार्चना
23.	श्री पंचमेरू विधान	24.	लघु नंदीश्वर विधान
25.	श्री चौबीसी महार्चना	26.	अभिनव सिद्धचक्र महार्चना
27.	अभिनव सिद्धचक्र मंत्रार्चना		

संपादित कृतियाँ (संस्कृत प्राकृत साहित्य)			
1.	आराधना सार (श्रीमद्देवसेनाचार्य जी)	2.	आराधना समुच्चय (श्री रविचन्द्राचार्य)
3.	आध्यात्म तरंगिणी (आचार्य सोमदेव सूरी जी)	4.	कर्म विपाक (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5.	कर्मप्रकृति (सिद्धांतचक्रवर्ती आ. श्री अभयचंद्र जी)	6.	गुणरत्नाकर (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
7.	चार श्रावकाचार संग्रह	8.	जिनकल्पि सूत्र (श्री प्रभाचंद्राचार्य जी)
9.	जिन श्रमण भारती (संकलन-भक्ति, स्तुति, ग्रंथादि)	10.	जिन सहस्रनाम स्तोत्र
11.	तत्त्वार्थ सार (श्री मदमृताचन्द्राचार्य सूरि)	12.	तत्त्वार्थस्य संसिद्धि

13.	तत्त्वार्थ सूत्र (आ. श्री उमास्वामी जी)	14.	तत्त्वज्ञान तरंगिणी (श्री मद्‌भट्टारक ज्ञानभूषण जी)
15.	तच्च वियारो सारो (आ. श्री वसुनंदी जी)	16.	तत्व भावना (आ. श्री अमितगति जी)
17.	धर्म रत्नाकर (श्री जयसेनाचार्य जी)	18.	धम्म रसायण (आ. श्री पद्‌मनंदी स्वामी जी)
19.	ध्यान सूत्राणि (श्री माघनंदी सूरी)	20.	नीतिसारसमुच्चय (आ. श्री इंद्रनंदीस्वामी जी)
21.	पंच विंशतिका (आ. श्री पद्मनंदी जी)	22.	प्रकृति समुत्कीर्तन (सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमीचंद्राचार्य जी)
23.	पंचरत्न	24.	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (आ. श्री अमृतचंद्रस्वामी जी)
25.	मरणकण्डिका (आ. श्री अमितगति जी)	26.	भगवती आराधना (आ. श्री शिवकोटी स्वामी जी)
27.	भावत्रयफलप्रदर्शी (आ. श्री कुंथुसागर जी)	28.	मूलाचार प्रदीप (आ. श्री सकलकीर्तिस्वामी जी)
29.	योगामृत (भाग 1-2) (मुनि श्रीबाल चंद्र जी)	30.	योगसार (भाग 1, 2) (मुनि श्री बालचंद्र जी)
31.	रयणसार (आ. श्री कुंदकुंद स्वामी)	32.	वसुऋद्धि
*	रत्नमाला (आ. श्री शिवकोटि स्वामी जी)	*	स्वरूप संबोधन (आ. श्री अकलंक देव जी)
*	पूज्यपाद श्रावकाचार (आ. श्री पूज्यपाद जी)	*	इष्टोपदेश (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
*	लघु द्रव्य संग्रह (आ. श्री नेमीचंद्र स्वामी जी)	*	वैराग्यमणिमाला (आ. श्री विशालकीर्ति जी)
*	अर्हत् प्रवचनम् (आ. श्री प्रभाचंद्र स्वामी जी)	*	ज्ञानांकुश (आ. श्री योगीन्द्र देव)
33.	सुभाषित रत्न संदोह (आ. श्री अमितगतिस्वामी जी)	34.	सिन्दूर प्रकरण (आ. श्री सोमदेव स्वामी जी)
35.	समाधि तंत्र (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)	36.	समाधि सार (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
37.	सार समुच्चय (आ. श्री कुलभद्र स्वामी जी)	38.	विषापहार स्तोत्र (महाकवि धनंजय)

प्रथमानुयोग साहित्य			
1.	अमरसेन चरित्र (कविवर माणिक्कराज जी)	2.	आराधना कथा कोश (ब्र. श्री नेमीदत्त जी) (भाग 1-2-3)
3.	करकण्डु चरित्र (मुनि श्री कनकामर जी)	4.	कोटिभट श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5.	गौतम स्वामी चारित्र (मण्डलाचार्य श्री धर्मचंद्र जी)	6.	चारूदत्त चरित्र (ब्र. श्री नेमीदत्त जी)

7.	चित्रसेन पद्मावती चरित्र (पं. पूर्णमल्ल जी)	8.	चेलना चरित्र
9.	चंद्रप्रभ चरित्र	10.	चौबीसी पुराण
11.	जिनदत्त चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)	12.	त्रिवेणी (संग्रह ग्रंथ)
13.	देशभूषण कुलभूषण चरित्र	14.	धर्मामृत (भाग 1-2) (श्री नयसेनाचार्य जी)
15.	धन्यकुमार चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	16.	नागकुमार चरित्र (आ. श्री मल्लिषेण जी)
17.	नंगानंग कुमार चरित्र (श्रीमान् देवदत्त)	18.	प्रभंजन चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
19.	पाण्डव पुराण (श्री मदाचार्य शुभचंद्र देव)	20.	पार्श्वनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
21.	पुण्याश्रव कथा कोष (भाग 1-2) (श्री रामचंद्र मुमुक्षु)	22.	पुराण सार संग्रह (भाग 1-2) (आ. श्री दामनंदी जी)
23.	भरतेश वैभव (कवि रत्नाकर)	24.	भद्रबाहु चरित्र
25.	मल्लिनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	26.	महीपाल चरित्र (कविवर श्री चारित्र भूषण)
27.	महापुराण (भाग 1-2)	28.	महावीर पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
29.	मौनव्रत कथा (आ. श्री श्रीचंद्र स्वामी जी)	30.	यशोधर चरित्र
31.	रामचरित्र (भाग 1-2) (आ. श्री सोमदेव स्वामी)	32.	रोहिणी व्रत कथा
33.	व्रत कथा संग्रह	34.	वरांग चरित्र (आ. श्री जटासिंह नंदी)
35.	विमलनाथ पुराण (श्री ब्रह्मचारीश्वर कृष्णदास जी)	36.	वीर वर्धमान चरित्र
37.	श्रेणिक चरित्र	38.	श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
39.	श्री जम्बूस्वामी चरित्र (श्री वीर कवि)	40.	शांतिनाथ पुराण (भाग 1-2) (कवि असग जी)
41.	सप्तव्यसन चरित्र (आ. श्री सोमकीर्ति भट्टारक)	42.	सम्यक्त्व कौमुदी
43.	सती मनोरमा	44.	सीता चरित्र (श्री दयाचंद गोलीय)
45.	सुरसुंदरी चरित्र	46.	सुलोचना चरित्र
47.	सुकुमाल चरित्र	48.	सुशीला उपन्यास
49.	सुदर्शन चरित्र (पं. गोपालदास बरैया)	50.	सुभौम चक्रवर्ती चरित्र
51.	हनुमान चरित्र	52.	क्षत्र चूड़ामणि (जीवंधर चरित्र)

संपादित हिंदी साहित्य

1. अरिष्ट निवारक त्रय विधान
   - नवग्रह विधान • वास्तु निवारण विधान • मृत्युंजय विधान (पं. आशाधर जी कृत)

2.	श्री जिनसहस्रनाम एवं पंचपरमेष्ठी विधान		
3.	श्री जिनसहस्रनाम विधान (लघु) आदि एक नाम अनेक		
4.	शाश्वत शांतिनाथ ऋद्धि विधान • भक्तामर विधान (आ. मानतुंग स्वामी जी (मूल) • शांतिनाथ विधान (पं. ताराचंद्र जी) • सम्मेदशिखर विधान (पं. जवाहर दास जी)		
5.	कुरल काव्य (संत तिरुवल्लुवर)	6.	तत्त्वोपदेश (छहढाला) (पं. प्रवर दौलतराम जी)
7.	दिव्य लक्ष्य (संकलन- हिंदी पाठ, स्तुति आदि)	8.	धर्म प्रश्नोत्तर (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
9.	प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	10.	भक्तिसागर (चौबीसी चालीसा संग्रह)
11.	विद्यानंद उवाच (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)	12.	सुख का सागर (चौबीसी चालीसा)
13.	संसार का अंत	14.	स्वास्थ्य बोधामृत
15.	पिच्छि-कमण्डलु (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)		

गुरु पद विनयांजली साहित्य

1.	आचार्य श्री विद्यानंद जी की यम सल्लेखना (मुनि प्रज्ञानंद)	2.	अक्षर शिल्पी (मुनि शिवानंद)
3.	पगवंदन (मुनि शिवानंद प्रशमानंद)	4.	वसुनंदी प्रश्नोत्तरी (मुनि जिनानंद, ऐ. विज्ञान सागर)
5.	दृष्टि दृश्यों के पार (आ. श्री वर्धस्व नंदनी, वर्चस्व नंदनी)	6.	स्मृति पटल से भाग-1 (आ. श्री वर्धस्व नंदनी)
7.	स्मृति पटल से भाग-2 (आ. श्री वर्धस्व नंदनी)	8.	अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी (ऐलक विज्ञान सागर)
9.	गुरु आस्था (ऐलक विज्ञान सागर)	10.	परिचय के गवाक्ष में (ऐलक विज्ञान सागर)
11.	स्वर्णोदय (ऐलक विज्ञान सागर)	12.	स्वर्ण जन्मजयंती महोत्सव (ऐलक विज्ञान सागर)
13.	हस्ताक्षर (ऐलक विज्ञान सागर)	14.	वसु संबुध (महाकाव्य) (प्रो. डॉ. उदयचंद जी जैन)
15.	समझाया रविन्दु न माना (सचिन जैन 'निकुंज')		

जिणवाणी-थुदी

महुरं विसदं पिय-गंभीरं
हिदयरं मिदं सिरिजिणवाणिं।

अणेगंतमयं सिआवायमयं
णिरुवमं समं सिरिजिणवाणिं।

जिणसव्वंगादो णिस्सरिदं
भविचित्तहरं सिरिजिणवाणिं।

बारस-अंगेहिं संजुत्तं
लोएपुज्जं सिरिजिणवाणिं।

कंठादिवचोकारणरहिदं
तयरोयहरं सिरिजिणवाणिं।

जगमंगल्लं जगकल्लाणिं
पणमामि सया सिरिजिणवाणिं।